विवेक-ज्योति
हिन्दी
त्रैमासिक
रामकृष्ण
मिशन
विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक - ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रेल – मई – जून

★ १९७७ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी चिन्मयचैतन्य

वार्षिक ५) | वर्ष १५ अंक २ | एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क – १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

फोन : २४५८९

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय — स्वामी विवेकानन्द

(बेलुड़ मठ, कलकत्ता में १९.६.१८९८)

मुद्रणस्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १५] अप्रैल-मई-जून ★ १९७७ ★ [अंक २

मुक्ति का मार्ग

बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता
मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम् ।
तस्मिन् सुदृष्टे भवबन्धनाशो
बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः ॥

--बाह्य पदार्थों का निषेध कर देने पर मन में आनन्द होता है और मन में आनन्द का उद्रेक होने पर परमात्मा का साक्षात्कार होता है और उसका सम्यक् साक्षात्कार होने पर संसार-बन्धन का नाश हो जाता है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का निषेध ही मुक्ति का मार्ग है।

--विवेकचूड़ामणि, ३३५

भक्त का विश्वास

एक समय नारद से भगवान् विष्णु किसी बात पर रुष्ट हो गये और उन्होंने उन्हें नरकवास का श्राप दे दिया। इससे नारद का मन बड़ा विचलित हो गया और वे शोक के सागर में डूब गये। कुछ समझ न पाये कि उन्हें क्या करना चाहिए। विचार करने लगे कि शाप से उन्हें कैसे छुटकारा मिल सकता है। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की कि उन्हें इस बार क्षमा प्रदान कर दी जाय, वे पुनः वैसी भूल कभी न करेंगे। पर भगवान् विष्णु न पसीजे। नारद ने उनके नामों का कीर्तन प्रारम्भ कर दिया। वे तरह तरह से प्रभु को रिझाने की चेष्टा करने लगे। अनुनय-विनय करते हुए वे बारम्बार विष्णु से कहने लगे, "प्रभो! ठीक है। यदि आप क्षमा नहीं करना चाहते, तो न सही। मुझसे भूल तो हो ही गयी है। बस, एक अनुरोध कृपापूर्वक स्वीकार कर लीजिए। मुझे यह तो बता दीजिए कि नरक कहाँ पर है और वहाँ किस प्रकार जाना पड़ता है। मुझे उस ओर जाने का अवसर नहीं आया, इसलिए आपसे यह पूछ रहा हूँ। धृष्टता क्षमा करें।"

नारद की ग्लानि और उनके पश्चात्ताप से भरे शब्दों को सुन भगवान् विष्णु पसीज गये। उन्होंने हाथ में खड़िया ली और वे नीचे भूमि पर विश्व का नक्शा आँकने लगे। जिस स्थान पर वे लोग खड़े थे, उस गोलोक को उन्होंने उस नक्शे में चिह्नित किया और नारद को बताया कि वे लोग नक्शे के अनुसार कहाँ पर स्थित हैं।

फिर उन्होंने अन्यान्य लोकों को, विभिन्न स्वर्गों को उस मानचित्र में प्रदर्शित किया। अन्त में वह स्थान अंकित किया, जहाँ विभिन्न प्रकार के नरक थे। नारद ने भगवान् से पूछा, "प्रभो ! मुझे किस नरक में जाना है ?" विष्णु ने खड़िये से नक्शे पर निशान बनाते हुए कहा, "इस नरक में।" नारद ने पुनः कुतूहल के स्वर में पूछा, "कहाँ पर ?" भगवान् ने उत्तर दिया, "अरे, यहाँ पर !"

बस, क्या था, नारद चट भूमि पर लेट गये और प्रभु द्वारा प्रदर्शित स्थान पर बारम्बार लोट-पोट होने लगे। भगवान् ने हँसते हुए पूछा, "नारद ! यह तुम क्या कर रहे हो ?" नारद बोले, "प्रभो ! मैं नरक में लोट-पोट कर रहा हूँ और इस प्रकार आप के शाप के अनुसार नरकवास की यातनाएँ भोग ले रहा हूँ।" भगवान् विष्णु आश्चर्य से कह उठे, "सो कैसे ?" नारद बोले, "प्रभो ! क्या स्वर्ग और नरक आपकी ही सृष्टि नहीं हैं ? जब आपने नक्शा खींचा और जब आप स्वयं ही उसमें नरक का स्थान मुझे बताने लगे, तो वह सचमुच ही नरक बन गया। मैं उसे यथार्थतः नरक मान बैठा और उसमें लोट-कर तीव्र वेदना की अनुभूति करने लगा। इस प्रकार मैंने सचमुच ही नरकभोग कर लिया। आपका श्राप मैंने अब भोग लिया, प्रभो !"

नारद ने इतनी आन्तरिकता से यह बात कही कि भगवान् विष्णु पसीज गये और उन्होंने हँसते हुए नारद को अपने श्राप से मुक्त कर दिया।

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

संयुक्त राज्य अमेरिका,
३१ अगस्त, १८९४

प्रिय आलासिंगा,

अभी मैंने 'बोस्टन ट्रान्सक्रिप्ट' में मद्रास की सभा के प्रस्तावों के आधार पर लिखा अपने ऊपर एक सम्पादकीय देखा। उन प्रस्तावों की प्रतिलिपि आदि मुझे कुछ भी नहीं मिली है। यदि तुम लोगों ने भेजा होगा, तो शीघ्र ही मिल जायगी। अभी तक तुमने अद्भुत कार्य किया है, मेरे बच्चे ! कभी कभी घबड़ाकर मैं जो कुछ लिख देता हूँ, उसका कुछ ख्याल न करना। अपने देश से पन्द्रह हजार मील की दूरी पर अकेला रहने और कट्टरपन्थी शत्रुभावापन्न ईसाइयों के साथ एक एक इंच जमीन के लिए लड़ते रहने के कारण कभी कभी मेरा घबड़ा उठना स्वाभाविक है। मेरे साहसी बच्चे, तुम्हें इन बातों को ध्यान में रखकर ही कार्य करते रहना चाहिए। शायद भट्टाचार्य से तुमको यह समाचार मिल गया होगा कि जी. जी. का एक सुन्दर पत्र मुझे मिला था। उसने अपना पता इस प्रकार घसीटकर लिखा था कि मैं बिल्कुल नहीं समझ सका। इसलिए उसके पत्र का जवाब भी मैं उसे सीधे नहीं दे सका। फिर भी उसके अभिप्रायानुसार मैंने सब कुछ किया है—मैं अपने फोटो भेज चुका हूँ तथा मैसूर के राजा साहब को पत्र भी लिखा है। खेतड़ी के

राजा साहब को भी मैंने एक फोटो भेजा है, परन्तु अभी तक उसके पहुँचने का समाचार मुझे नहीं मिला। उसका पता लगाना। कुक एंड सन्स, रामपार्ट रो, बम्बई के पते पर मैंने उसे भेजा है। इस बारे में सब समाचार पूछकर राजा साहब को एक पत्र लिखना। ८ जून का लिखा हुआ उनका एक पत्र मुझे मिला है। यदि उसके बाद उन्होंने कुछ लिखा हो, तो वह अभी तक मुझे नहीं मिला।

जिन भारतीय समाचारपत्रों में मेरे सम्बन्ध में कुछ प्रकाशित हो, उन्हें तुम मेरे पास यहाँ भेज देना। मैं उन पत्रों में ही उन समाचारों को पढ़ना चाहता हूँ, समझे? और अन्त में चारुचन्द्र बाबू का, जिन्होंने मेरे साथ अत्यन्त सहृदयतापूर्ण व्यवहार किया है, विस्तृत समाचार लिखना। उन्हें मेरा आन्तरिक धन्यवाद कहना। अत्यन्त खेद का विषय है कि उनकी बातें मुझे कुछ भी याद नहीं आ रही है--यह मैं तुमको अत्यन्त गुप्त रूप से लिख रहा हूँ। क्या तुम मुझे उनका विस्तृत विवरण भेज सकते हो?

थियोसॉफिस्ट लोग अब मुझे चाह तो रहे हैं, किन्तु यहाँ पर उनकी कुल संख्या सिर्फ ६५० है! इसके अलावा ईसाई-वैज्ञानिक हैं, वे सभी मुझे पसन्द करते हैं। उनकी संख्या लगभग दस लाख की होगी। यद्यपि मैं दोनों दलों के साथ काम करता हूँ, फिर भी मैं किसी में शामिल नहीं हूँ, और यदि भगवत्कृपा हुई, तो दोनों ही दलों को मैं ठीक रास्ते पर ला सकूँगा, क्योंकि वे लोग तो सिर्फ कुछ अर्ध-सत्यों को ही दुहराते रहते हैं।

आशा है कि यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचने के पहले ही नरसिंह को रुपया-पैसा मिल जायगा।

मुझे 'कैट' का एक पत्र मिला है, किन्तु उसके तमाम प्रश्नों का उत्तर देना तो एक पुस्तक लिखना है, अतः तुम्हारे पत्र के द्वारा ही मैं उसे आशीर्वाद भेज रहा हूँ। तुम उसे यह याद दिला देना कि हम दोनों की विचार-धाराएँ विभिन्न होने पर भी हम एक दूसरे के विचारों में निहित सामंजस्य देख सकते हैं। अतः वह चाहे जिस चीज में भी विश्वास करे, इसमें कोई हानि नहीं है, उसे अपना काम करते रहना चाहिए।

बाला जी, जी. जी., किडी, डाक्टर तथा हमारे समस्त मित्रों से मेरा प्यार कहना तथा जिन महान् देश-भक्त आत्माओं ने अपने देश के लिए सारे मतभेदों को भूलकर साहस तथा महत्ता का परिचय प्रदान किया है, उन्हें भी मेरा आन्तरिक प्यार कहना।

कोई एक छोटी सी समिति स्थापित करो और उसके मुखपत्रस्वरूप एक नियतकालिक पत्रिका निकालो--तुम उसके सम्पादक बनो। पत्रिका-प्रकाशन तथा प्रारम्भिक कार्य के लिए कम से कम कितना व्यय होगा, इसका विवरण मुझे भेजो तथा समिति का नाम एवं पता भी लिखना। इस कार्य के लिए न केवल मैं स्वयं सहायता करूँगा, वरन् यहाँ के और लोगों से भी अधिक से अधिक वार्षिक चन्दा भिजवाने की व्यवस्था करूँगा। कलकत्ते में भी इस प्रकार की व्यवस्था करने के लिए लिखो।

मुझे धर्मपाल का पता भेजो। वे बहुत ही बड़े तथा अच्छे आदमी हैं। हम लोगों के साथ मिलकर वे बहुत ही अच्छी तरह से कार्य करेंगे। यह ख्याल रखना कि इन सारे कार्यों की देख-भाल तुमको ही करनी होगी---'नेता' बनकर नहीं, सेवक-रूप से। थोड़ी सी भी नेतागिरी दिखलाने से लोगों में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हो जाता है और फिर सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, यह जानते हो कि नहीं ? सबकी सब बातें मानने को तैयार रहो, बस, इतना ध्यान रखो कि मेरे सब मित्र एकत्र रहें। इसे समझ रहे हो न ? धीरे धीरे कार्य में अग्रसर होकर उसकी उन्नति की चेष्टा करते रहो। जी. जी. तथा अन्य लोगों को, जिनको अभी हाल में किसी प्रकार का अर्थार्जन करने की आवश्यकता नहीं है, जो कर रहे हैं, करने दो, यानी वे च रों ओर विचारों का प्रसार करते रहें। जी. जी. मैसूर में बहुत अच्छा कार्य कर रहा है। काम करने का यही ढंग है। मैसूर किसी दिन हम लोगों का एक बहुत बड़ा गढ़ बन जायगा।

मैं अब अपने विचारों को पुस्तकाकार लिपिबद्ध करने की सोच रहा हूँ और अनन्तर आगामी जाड़ों में सारे देश में भ्रमण कर मैं समितियाँ स्थापित करूँगा। यह देश एक वृहत् कार्यक्षेत्र है और यहाँ पर जितना ही कार्य होगा, उतना ही इँग्लैण्ड के लोग उसको ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत होंगे। अब तक तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है, मेरे बहादुर बच्चे ! प्रभु तुममें पूर्ण शक्ति का

संचार करेंगे ।

इस समय मेरे पास ९००० रुपये हैं, जिसमें से भारत में संगठन-कार्य के लिए कुछ भेज दूँगा तथा यहाँ के लोगों से कहकर वार्षिक, अर्धवार्षिक तथा मासिक कुछ धन मद्रास भिजवाने की व्यवस्था करूँगा । शीघ्रातिशीघ्र तुम समिति स्थापित करो तथा पत्रिका प्रकाशित कर दो, साथ ही और जो भी कुछ आवश्यक समझो, उसकी भी व्यवस्था करो । इस कार्य को सीमित व्यक्तियों में गुप्त रूप से करना । इसके साथ ही साथ मद्रास में एक मन्दिर स्थापित करने के लिए मैसूर तथा अन्य स्थानों से अर्थ-संग्रह करने का प्रयास करना, जिसमें एक पुस्तकालय हो, आफिस के लिए कमरा और धर्म-प्रचारार्थ संन्यासियों तथा अन्य कभी आ जानेवाले वैरागियों के लिए भी कुछ कमरे हों । इस प्रकार से हम धीरे धीरे कार्य में अग्रसर होंगे । मेरे कार्य के लिए यह एक महान् क्षेत्र है, और यहाँ जो कुछ किया जाता है, इँग्लैण्ड के कार्य के लिए मार्ग प्रशस्त करता है । . . .

यह तो तुम्हें पता ही है कि रुपया रखना, यहाँ तक कि उसे छूना भी मेरे लिए सबसे कठिन है । इसे मैं अत्यन्त कष्टदायक कार्य समझता हूँ और इससे मन अधोगामी बन जाता है । अतः कार्य-संचालन तथा आर्थिक मामलों की व्यवस्था के लिए तुम लोगों को संगठित होकर किसी समिति की स्थापना करनी ही होगी । यहाँ पर जो मेरे मित्र हैं, वे ही आर्थिक मामलों की व्यवस्था करते हैं ।

तुम समझ रहे हो न ? अर्थविषयक इस भयानक झंझट से मुक्ति पा जाने पर मैं सुख की साँस ले सकूँगा। अतः तुम लोग जितने शीघ्र संगठित होकर, मंत्री तथा कोषाध्यक्ष बनकर, मेरे मित्र तथा सहायकों से स्वयं पत्र-व्यवहार कर सको, उतना ही तुम्हारे तथा मेरे लिए हितकर है। शीघ्र ही इस कार्य को सम्पादित कर मुझे सूचित करो। समिति का नाम असाम्प्रदायिक होना चाहिए, मैं समझता हूँ कि 'प्रबुद्ध भारत' नाम रखना अच्छा है। यह नाम हिन्दुओं के मन में किसी प्रकार का आघात न पहुँचाकर बौद्धों को भी हमारी ओर आकृष्ट करेगा। प्रबुद्ध शब्द की ध्वनि से ही (प्र+बुद्ध = बुद्ध के सहित) अर्थात् गौतम बुद्ध के साथ भारत को जोड़ने पर हिन्दू धर्म के साथ बौद्ध धर्म का सम्मिलन समझा जा सकेगा। अस्तु, इस विषय में अपने सब मित्रों के साथ विचार-विमर्श करना——वे जैसा अच्छा समझें।

मठ के गुरुभाइयों से भी इसी प्रकार संगठित होकर काम करने को कहना, किन्तु अर्थविषयक व्यवस्था तुमको ही करनी होगी। वे सब संन्यासी हैं, आर्थिक झंझटों में फँसना वे पसन्द नहीं करेंगे। आलासिंगा, यह निश्चित जानना कि भविष्य में तुमको अनेक महान् कार्य करने होंगे। यदि तुम उचित समझो, तो कुछ बड़े आदमियों को राजी कर समिति के कार्यकर्ताओं के रूप में उनके नाम प्रकाशित करना, जबकि वास्तव में कार्य तुमको ही करना होगा। उनके नाम से बहुत कुछ कार्य होंगे। यदि

सांसारिक कार्य अधिक होने के कारण तुम्हारे लिए इनको करने का अवकाश न हो, तो समिति के आर्थिक विभाग की जिम्मेदारी जी. जी. को सम्हालनी होगी और मैं यह आशा करता हूँ कि धीरे धीरे मैं ऐसी व्यवस्था कर सकूँगा, जिससे अपनी और अपने परिवार की उदर-पूर्ति के लिए तुम्हें कालेज पर निर्भर न रहना पड़े, और जिससे तुम अच्छी तरह से इस कार्य में जुट सको। कार्य में जुट जाओ, मेरे बच्चे, कार्य में जुट जाओ। कार्य का कठिन भाग बहुत कुछ हल हो चुका है। अब यह प्रतिवर्ष धीरे धीरे स्वयं ही अग्रसर होता जायगा। और यदि तुम लोग सिर्फ मेरे भारत लौटने तक भलीभाँति उसकी देख-भाल कर सको, तो फिर अत्यन्त तीव्रता के साथ उसकी प्रगति होती रहेगी। तुम लोग इतना कुछ कर सके हो, यही समझकर आनन्द अनुभव करो। यदि कभी मन में निराशा का भाव उदित हो, तो उस समय यह विचार करो कि गत वर्ष कितना कार्य हुआ। नगण्य दशा से हम जाग्रत् हुए हैं, अब जगत् हमारी ओर आशाभरी दृष्टि से देख रहा है। केवल भारत ही नहीं, अपितु समस्त संसार हमसे अनेक उत्तम वस्तुओं की आशा लगाये हुए है। मिशनरी, एम. तथा मूर्ख साहब लोग, इनमें से कोई भी सत्य, प्रेम तथा निष्कपट शक्ति को रोक नहीं सकते। तुम अपने मन और वाणी को एक कर पाये हो ? क्या तुम मृत्यु तक को तुच्छ समझकर निःस्वार्थ भाव से रह सकते हो ? क्या तुम्हारे हृदय में प्रेम है ? यदि ये बातें तुम्हारे

भीतर विद्यमान हों, तो फिर तुम्हें किसी भी चीज से, यहाँ तक कि मृत्यु से भी डरने की आवश्यकता नहीं। मेरे बच्चे, बढ़े चलो, सारा संसार ज्ञानालोक के लिए लालायित है, उस ज्ञानालोक को प्राप्त करने के लिए उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से वह हमारी ओर देख रहा है। एक-मात्र भारत के पास ही ऐसा ज्ञानालोक विद्यमान है, जिसकी कार्यशक्ति न तो इन्द्रजाल में है और न जादू ही में, वह तो सच्चे धर्म के मर्मस्थल——उच्चतम आध्यात्मिक सत्य के अशेष महिमान्वित उपदेशों में प्रतिष्ठित है। संसार को इस तत्व की शिक्षा प्रदान करने के लिए ही प्रभु ने इस जाति को विभिन्न उलट-फेरों के भीतर भी आज तक जीवित रखा है। अब उस वस्तु को देने का समय उपस्थित हुआ है। मेरे वीरहृदय युवको, तुम यह विश्वास रखो कि अनेक महान् कार्य करने के लिए तुम लोगों का जन्म हुआ है। कुत्तों के भौंकने से न डरो, यहाँ तक कि यदि आकाश से प्रबल वज्रपात भी हो, तो भी न डरो, उठो——कमर कसकर खड़े हो जाओ और कार्य करते चलो।

सस्नेह तुम्हारा,
विवेकानन्द

*

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

'श्रीरामकृष्ण-पोथी' के रचयिता, श्रीठाकुर के कृपा-प्राप्त भक्त तथा श्रीमाँ के चरणाश्रित सन्तान अक्षयकुमार सेन का जन्मस्थान मयनापुर ग्राम जयरामवाटी से वायव्य में कुछ कोस दूर अवस्थित है। अपने जीवन के शेष दिन सेन महाशय ने कलकत्ता त्यागकर अपनी जन्म-भूमि में ही बिताये थे। उनका शरीर स्वस्थ और सबल नहीं था। इतनी दूर चलकर जयरामवाटी आना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता था, इसलिए माँ जब जयरामवाटी में रहतीं, तब सेन महाशय बीच बीच में किसी को वहाँ भेजकर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते एवं कुशल-समाचार लेते रहते। उनकी आर्थिक अवस्था विशेष अच्छी न होने पर भी वे माँ की सेवा के लिए विभिन्न वस्तुएँ भेजा करते। मयनापुर अंचल में बहुत भैंसें पाली जाती हैं। वहाँ भैंस का बहुत बढ़िया घी होता है। सेन महाशय सुविधानुसार वहाँ का बढ़िया घी माँ के लिए भेजा करते। मक्खन के समान वह सफेद शुद्ध घी माँ भक्तों को भात के ऊपर परोसतीं और आनन्दपूर्वक कहतीं, 'अक्षय मास्टर का भेजा हुआ घी है। खाकर देखो कैसा स्वादिष्ट है।' माँ के स्वयं के काम में कितना घी लग पाता यह कौन जाने, पर यह प्रकट था कि विभिन्न प्रान्तों से आयी अपनी प्रिय सन्तानों को वह शुद्ध घी खिलाकर माँ को परम तृप्ति होती। एक बार सेन

महाशय ने एक शूद्रा स्त्री केहाथों माँ के लिए कुछ सामान भेजा। वह मजदूरिन दोपहर को पहुँची। उसने माँ से सेन महाशय का भक्तिपूर्ण प्रणाम निवेदित किया और सव चीजें समझाकर दे दीं। माँ ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे नहा-खा थोड़ा विश्राम कर तव लौटने को कहा।

माँ के घर कुली, मजदूर, गाड़ीवान, पालकीवाहक, फेरीवाले, मछुए-मछुआरिन जो भी आते, सभी उनके पुत्र-पुत्री के समान थे। वे सव भक्तों के ही समान स्नेह और अपनत्व पाते। सभी को पता था कि यहाँ केवल चीजें-वस्तुएँ, रुपया-पैसा आदि वाहरी वस्तुओं का आदान-प्रदान नहीं है, यहाँ तो स्वार्थपरायण सांसारिक व्यवहार से ऊपर उठकर निःस्वार्थ प्रेम का व्यवहार है। जो भी व्यक्ति जिस किसी प्रयोजन से वहाँ आता, माँ के दर्शन कर, उनके चरणों में प्रणत हो, उनका शुभ स्नेहाशीर्वाद पा उसका हृदय शीतल हो उठता। सभी तो माँ की सन्तान हैं। जिस किसी कारण से कोई क्यों न आए, वह उनके सुमधुर सम्भाषण, अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनके द्वारा दिया गया मुरमुरा-गुड़, और कुछ न हो तो थोड़ा प्रसादी शरवत अवश्य प्राप्त करता। और वह करुणापूर्ण स्नेह दृष्टि, जिसे जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं भूला जा सकता, यदि कभी विस्मृत हो भी जाय तो दुःख-कष्ट आने पर उस अभयदायिनी का अनायास स्मरण करा देगी, जिससे उसकी अभयवाणी याद हो आएगी और उसकी कृपादृष्टिमयी छवि मानसपटल पर उभर उठेगी। तभी तो वाद में भी

यह देखा गया कि जिन लोगों का भाव-भक्ति आदि के माध्यम से माँ के साथ किसी प्रकार का आध्यात्मिक सम्बन्ध न होने के कारण कोई निकट का सम्पर्क नहीं था, वे भी उनकी करुणा, उनकी स्नेह-ममता का स्मरण कर आँसू बहा रहे हैं। धन्य हैं वे लोग और धन्य है उनका मानव-जन्म। श्रीमाँ के प्रति यह जो आन्तरिक आकर्षण है, ममत्व का बोध है, इस भाव की अनुभूति है कि वे तो हमारी अपनी माँ हैं, बस यही सार वस्तु है। इससे जीव का भव-बन्धन, कोटि जन्मों का कर्म-पाश क्षणमात्र में छिन्न-भिन्न हो जाएगा। पूज्यपाद शरद् महाराज ने कहा है––'जान-बूझकर हो या अनजाने, जैसे भी हो, जिस किसी कारण से हो, यदि क्षणमात्र के लिए भी एक बार भगवान् में मन लग जाय, तो मानव-जन्म सफल हो जाता है।' श्रीमद्भागवत में परमहंसशिरोमणि श्री शुकदेव भगवद्-द्वेषी शिशुपाल की सद्गति के प्रसंग में कहते हैं––'जिस किसी प्रकार से भी हो भगवान् का चिन्तन करने से मुक्ति हो जाती है।' इसीलिए तो नर-लीला है। माँ, तुम्हारे 'उस रूप को जिसने भी देखा, वही छक गया। अन्य रूप अब अच्छा नहीं लगता!'

तेल मल, स्नान कर और भरपेट प्रसाद पा मयनापुर की मजदूरिन को परम आनन्द हुआ। देर हुई देख माँ ने उसे असमय में जाने से रोका तथा रात्रि में वहीं विश्राम कर दूसरे दिन जाने के लिए कहा। माँ के कमरे के बरामदे में, दरवाजे के सामने ही मजदूरिन के सोने

की व्यवस्था की गयी। उसकी उम्र पर्याप्त हो चली थी, उसे वृद्धा कहने से भी चलेगा। वह मलेरिया से भुगत रही थी। फिर इतनी दूर सिर पर बोझा लाद पैदल चलकर आयी थी। थककर चूर हो गयी थी। फिर रात में थोड़ा बुखार भी हो आया था। वह बेहोश के समान पड़ी रही। भोर में बहुत जल्दी उठने का माँ का सदा का अभ्यास रहा है। आज उठकर दरवाजा खोलते ही माँ ने देखा कि बेहोशी की हालत में वृद्धा ने बिस्तर गन्दा कर लिया है। क्या किया जाय? सुबह उठने पर जब दूसरों को पता चलेगा, तब उनकी इस दुखिया बेटी को सभी लोगों से डाँट और तिरस्कार सहना पड़ेगा। यह सोच माँ का चित्त व्याकुल हो उठा। वह स्त्री तब भी गहरी नींद में डूबी थी। माँ ने धीरे धीरे उसे जगाया। चुपचाप उसके हाथों में जलपान के लिए मुरमुरा और गुड़ दे उससे स्नेहपूर्वक कहा, 'बेटी, तुम सुबह सुबह रवाना हो जाओ, इससे धूप का कष्ट न होगा।' सन्तुष्ट-मन से उसने श्रीमाँ को प्रणाम कर विदा ली। उसके चले जाने पर माँ ने अपने हाथों से वह सब साफ किया। गोबर और मिट्टी से बरामदे को लीपा। चटाई को अच्छा तरह साफ कर तालाब के पार पर सूखने डाल दिया। किसी को कुछ पता न लगा। सुबह उठकर सभी अपने अपने कामों में व्यस्त हो गये। कौन किसकी खबर रखे? नौकरानी ने जब आकर देखा कि बरामदा लीपा हुआ है, तब उसे तो प्रसन्नता ही हुई। पर उस समय एक प्रौढ़

वुद्धिमती महिला माँ के घर आयी हुई थीं। इतनी सुवह वरामदे को किसने लीपा इस विषय में उन्हें बड़ी उत्सुकता हुई। उन्होंने पता लगाया और अन्त में उन्हें सब वातों की जानकारी हुई। वाद में अन्तरंग भक्तों को उन्होंने माँ की यह अद्‌भुत लीला बतायी थी।

जयरामवाटी गाँव में एक वालविधवा थी। बड़ी गरीव और दुखिनी थी। मेहनत-मजदूरी करके वड़े कष्ट से जीवनयापन करती। उसका कव विवाह हुआ था, पति कैसा था, वह कव विधवा हो गयी, उसे कुछ मालूम नहीं था। जब थोड़ी वड़ी हुई, तब उसे पता लगा कि वह विधवा है, अव उसका विवाह नहीं होगा, संसार के सुख-भोग में उसका अधिकार नहीं है। भक्तों का सामान ढोने के कारण माँ के घर उसका आना-जाना था। माँ का उसके प्रति बड़ा स्नेह था। धीरे धीरे वह पूर्ण युवती हो गयी। एक युवक के साथ अवैध रूप से उसका मिलना-जुलना होता रहा। बात वहुत बढ़ गयी और सारे गाँव को इसका पता चल गया। हृदयहीन समाज-नेताओं ने आज तक इस अनाथा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था, उसे सही रास्ता वताने की कोई व्यवस्था नहीं की थी, पर अव उस दुखिया पर उनकी पैनी दृष्टि पड़ी। गाँव के 'गण्यमान्य' लोगों ने मिलकर उसके विषय में विचार किया। हतभागिनी के प्रति लांछन और तिरस्कार का दौरा चलने लगा। जयरामवाटी में ग्रामीण परिपाटी के अनुसार इस विषय को ले विवाद और दलवन्दी का

मूत्रपात हो गया। माँ यह सब सुन उस अभागिन के भविष्य की चिन्ता कर बड़ी दुखित और चिन्तित हुईं। पर भगवान् के निकट प्रार्थना करने के अतिरिक्त माँ और कर भी क्या सकती थीं।

भगवान् की कृपा हुई। माँ की कृपाप्राप्त सन्तानों में से एक जमींदार ने हस्तक्षेप कर मामला निपटा दिया। गाँव में शान्ति स्थापित हुई। माँ सुनकर आश्वस्त हुईं और उन्होंने राहत की साँस ली। कुछ दिनों पश्चात् जब वह जमींदार-भक्त माँ को प्रणाम करने आये, तो माँ न प्रसन्नचित्त से उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, "बेटा, दुखिनी को तुमने बचा लिया, उसकी रक्षा की, यह सुन मेरे प्राण शीतल हुए। भगवान् तुम्हारा मंगल करेंगे।"

जिन्हें हम अति अधम कहकर घृणा करते हैं, उनसे भी प्रेम करना, उनकी विपत्ति के समय ऐसी समवेदना प्रकट करना, उन्हें ऐसा अपार स्नेह प्रदान करना हमारी इस जगज्जननी, 'जन्म-जन्मान्तर की माँ', 'भले की भी माँ और बुरे की भी माँ' को छोड़ और कौन कर सकता है!

(क्रमशः)

धर्म-प्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनुवादक—स्वामी व्योमानन्द

(गतांक से आगे)

स्थान––अद्वैत आश्रम, वाराणसी

२१ जनवरी १९२१

महाराज––मोगलसराय से मोटर में आते समय दोनों तरफ खुला मैदान आदि देख मन म कोई आनन्द नहीं हुआ। पर क्षेत्र-माहात्म्य ऐसा है कि ज्योंही bridge (पुल) पार होकर आया, त्योंही एक ऐसे माधुर्य का अनुभव हुआ कि क्या कहूँ ! यह शिवक्षेत्र है––शिव ही गुरु हैं। एक ओर माँ अन्नपूर्णा अन्न दे बाहरी अभाव दूर कर रही हैं और दूसरी ओर बाबा विश्वनाथ धर्म दे रहे हैं। ठाकुर के पास एक दाढ़ीवाले ज्योतिर्मय पुरुष आये थे। ठाकुर को उन्होंने वाराणसी का सारा माहात्म्य दिखा दिया था। वे महाकाल-भैरव थे। ठाकुर का शरीर तब पड़ा हुआ था।

सन्ध्या हुई है। महाराज ठाकुर-प्रणाम करेंगे, सो उन्होंने गंगाजल माँगा। गगाजल लाया गया। स्वयं ले वहाँ जो लोग उपस्थित थे, उनसे भी लेने के लिए कहा। एक एक कर सभी ने गंगाजल ग्रहण किया। ठाकुर-प्रणाम करने के बाद उन्होंने कहा, "गंगावारि ब्रह्मवारि है, अभीष्टदायिनी है––इष्ट-दर्शन में सहायक है। ठाकुर कहते थे, 'गंगाजल, महाप्रसाद (श्री जगन्नाथ देव का) और वृन्दावन की धूलि––सब ब्रह्मस्वरूप हैं।' "

बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा, "कुलकुण्डलिनी

जब अधोमुखी रहती है, तब जीव का मन लिंग, गुदा और नाभि के विषय लेकर रहता है, और जब ऊर्ध्वमुखी होती है, तब मन भगवत्-विषय लेकर रहता है। सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर ईश्वर के रूप देखने की इच्छा होती है। उनका नाम लेते, उनका ध्यान करते अच्छा लगता है।"

स्थान--अद्वैत आश्रम, वाराणसी

२४ जनवरी १९२१

सबेरे महाराज ने एक साधु से पूछा, "क्या कुछ करता है?"

उत्तर—नहीं महाराज, मन जमता नहीं, रस नहीं मिलता; हृदय किसी भी तरह नहीं खुल रहा है, इसलिए बड़ी अशान्ति है। हम लोग इतने खराब संस्कार लेकर आये हैं कि उन सबने रास्ता obstruct (रोक) कर रखा है।

महाराज—वैसा सोचना नहीं। मध्यरात्रि में जप कर तो सही। यह न हो सके तो ब्राह्ममुहूर्त में कर। पुरश्चरण कर। समय अब और नष्ट मत कर। ध्यान-भजन म डूब जा। कुछ कर। इधर किया तो कुछ है नहीं, फिर क्या आप ही आप सब खुल जायगा!

एक अन्य साधु ने प्रश्न किया, "महाराज, रात में खाने के कारण सुबह उठ नहीं सकता। रात में खाने को देर होती है, इसलिए हजम अच्छा नहीं होता। इसीलिए सबेरे सबेरे उठने पर भी शरीर और मन की जड़ता नहीं जाती। फिर न खाऊँ, तो दुर्बलता मालूम होती है।

क्या करूँ ?"

महाराज--रात में खाना कम कर दो। पहले-पहल करीब बारह आने खाना, बाद में आठ आने हो जायगा। पहले शरीर दुर्बल मालूम होगा, बाद में ठीक हो जायगा, बल्कि शरीर हल्का मालूम होगा। तब (तपस्या के समय) हम लोग एकाहारी थे। उससे शरीर काफी हल्का रहता था।

सन्ध्या समय महाराज के कमरे में शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) भी बैठे हुए हैं। साधु-ब्रह्मचारीगण उन दोनों को प्रणाम करके बैठे। थोड़ी देर बाद महाराज ने एक साधु को लक्ष्य करते हुए कहा, "किसी महापुरुष के पास से शिक्षा ग्रहण कर methodically (यथापद्धति) साधना करनी चाहिए--haphzaardly (विश्रृंखल भाव से) करने से भला क्या होगा ? बीच में छोड़ देने पर फिर दुगुना परिश्रम करना पड़ता है। पर हाँ, पहले का किया हुआ एकदम नष्ट नहीं होता। साधन-भजन करने से ही काम-क्रोधादि दूर होंगे। अभी मन रज और तम से आच्छन्न है। उसे शुद्ध करना होगा, सूक्ष्म करना होगा, सत्त्वगुण में ले जाना होगा। तब जप-ध्यान अच्छा लगेगा, अधिकाधिक करने की इच्छा होगी। फिर जब मन शुद्ध-सत्त्व हो जायगा, तब यही लेकर रहना। मन अभी जड़ (तम से आच्छन्न) है; इसलिए जड़ (बाह्य विषयों) के प्रति उसका आकर्षण है। और जब यही मन चेतन होगा, तब चेतन को आकर्षित करेगा। मन के सूक्ष्म होने से उसकी capacity (धारणाशक्ति) बढ़ जायगी; तब सूक्ष्म

ईश्वरीय तत्त्व शीघ्र समझ सकोगे।

"ध्यान करने के समय एक आनन्दमय स्वरूप का चिन्तन करना होगा——उससे nerves (स्नायु) soothed (शान्त) हो जाएँगे। इष्टमूर्ति के अधरों पर हँसी है तथा वह आनन्दमय है इस प्रकार से चिन्तन करना होगा, अन्यथा ध्यान शुष्क हो जायगा। अव समय नष्ट न कर। सारे रिपु प्रवल हैं। अभी तो उनका वेग सह लेना होगा। इससे कष्ट भी होगा। सात-आठ वर्ष परिश्रम कर ले। वाद में सारा जीवन सुख से विता सकेगा। एक साल में ही फल समझ ले सकेगा। स्त्रियाँ कर पा रही हैं और तुम लोग न कर सकोगे? देखो न, यहीं वाराणसी में एक लड़की ने एक वर्ष में ही खासी उन्नति कर ली है, बहुत आनन्द पा रही है। लड़कियों में विश्वास अधिक है, इसीलिए झट से काम हो जाता है। ठाकुर तुम लोगों के साथ हैं। थोड़ा कर तो सही, देखेगा वे हाथ बढ़ाये हुए हैं। वे सभी विपत्तियों से सर्वदा रक्षा करेंगे। उनकी कितनी कृपा है, यह सब क्या समझाया जा सकता है!

"यह सब जो सुन रहा है, इसे realise (अनुभव) कर। जिसका जैसा निज का भाव है, उसे वही लेकर पहले आरम्भ करना चाहिए। वाद में उस भाव के पक्का हो जाने पर सभी भावों के द्वारा उन्हें लेकर आनन्द किया जा सकता है। Emotional (भावुक) नहीं होना, feeling (भाव) दवाकर रखना चाहिए। जप के साथ ही साथ मूर्ति का चिन्तन करना चाहिए, नहीं तो जप

ठीक नहीं होता। पूरी मूर्ति का ध्यान न होने पर भी जितना भी मन के सामने आए, वही लेकर ध्यान आरम्भ करना। पहले पादपद्म से आरम्भ करना। नहीं कर सकने पर भी struggle (वारम्बार प्रयत्न) करना। मूर्ति न आये तो क्या ध्यान ही छोड़ देगा ? नहीं, करना ही होगा। ध्यान क्या सहज ही हो जाता है ? करते करते ही होगा। ध्यान का next step (अगला कदम) ही समाधि है। निर्भरता आदि जो भी है, सब साधन के द्वारा भीतर से निकलेगी ! उन पर सब छोड़ दे, पूरी तरह शरणागत हो जा।"

स्थान—अद्वैत आश्रम, वाराणसी

जनवरी १९२१

प्रश्न—महाराज, कोई हृदय में तो कोई मस्तक में ध्यान करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु मैं जैसे बाहर का रूप देखता हूँ, जैसे अभी आपको देख रहा हूँ, उसी प्रकार ध्यान करने का प्रयत्न करता हूँ। किस प्रकार ध्यान करना ठीक है ?

महाराज—देखो, वह सब उपासकों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। साधारणतया हृदय में ध्यान करना ही अच्छा है। देह मानो मन्दिर है, ठाकुर उसमें प्रतिष्ठित हैं। ध्यान करते करते मन जब स्थिर हो जायगा, तव जहाँ इच्छा हो, इष्ट-दर्शन होगा। बाजू में, हृदय में, पीछे, बाहर—सभी स्थानों में ध्यान किया जा सकता है। ध्यान करते करते ज्योति-दर्शन होता है,

किन्तु इस प्रकार के ज्योति-दर्शन के साथ साथ या उसके थोड़े समय बाद ही एक प्रकार का आनन्द मिलता है, जिसे छोड़कर मन आगे बढ़ना नहीं चाहता। उसके बाद घनीभूत ज्योति के दर्शन होते हैं, तब मन उसमें तन्मय हो जाता है। कभी कभी तो दीर्घ प्रणवध्वनि सुनते सुनते भी मन तन्मय हो जाता है। दर्शन और अनुभूति के राज्य की क्या कोई सीमा है ? जितना बढ़ो, अनन्त ही अनन्त ! कई लोग थोड़ी ज्योति-वोति देख सोचते हैं कि बस यही आखिरी है। परं यह ठीक नहीं। जहाँ जाकर मन का विकल्प समाप्त हो जाता है, कोई कोई कहते हैं कि वही अन्तिम है और कोई कोई कहते हैं कि वही आरम्भ है।

प्रश्न—महाराज, साधारणतया देखा जाता है कि मन थोड़ा आगे बढ़ने के बाद और आगे नहीं बढ़ पाता। इसका क्या कारण है ?

महाराज—वह मन की ही दुर्बलता है। मन की जितनी capacity (शक्ति) है, उतनी लेकर और मानो ले नहीं पाता। सबके मन की capaeity (शक्ति) एक प्रकार की तो होती नहीं। मन की capacity (शक्ति) बढ़ानी होगी। ठाकुर कहते थे, 'ब्रह्मचर्य के द्वारा मन की शक्ति खूब बढ़ जाती है।' ऐसा मन मामूली काम-क्रोध से चंचल नहीं होता—वह सब उसे अति तुच्छ मालूम होता है। तब ठीक ठीक आत्मविश्वास आता है कि वह सब मेरा कुछ नहीं कर सकता। साधन-पथ में अनेक विघ्न

हैं। इसलिए पूजा आदि में आसन, मुद्रा इत्यादि की व्यवस्था है।

प्रश्न--महाराज, आप हम लोगों में से एक एक को बुलाकर पूछिए, तू क्या करता है, तेरी क्या difficulty (कठिनाई) है, इत्यादि। इससे हमें बड़ा उत्साह मिलेगा। आप लोग यदि उत्साह दें, तो हममें खूब साहस आता है।

महाराज--बात क्या है जानते हो? ऐसा करना सब समय नहीं हो पाता। कभी कभी मन की ऐसी अवस्था रहती है कि लगता है पैर पकड़कर बोलूँ, बच्चा ऐसा करो, ऐसा करो। फिर कभी कभी लगता है, मैं भला क्या करूँगा? ठाकुर हैं--वे जैसा करा रहे हैं, वैसा ही हो रहा है। और कहूँ भी किससे? वे ही करण हैं, वे ही कारण हैं, वे ही सब हैं। और कहने से लोग ग्रहण करेंगे भी क्यों? फिर भी देखो, उधर से यदि कोई प्रेरणा आए, तब कहने से लोग ग्रहण करते हैं। खूब करो, समझे, खूब करो। देखना, थोड़ा भी समय नष्ट न हो। एक दिन के बीतने पर ठाकुर माँ के पास रोते रोते कहते थे, 'माँ, और भी एक दिन बीत गया, अब भी तूने दर्शन नहीं दिये!' तुम लोग खूब व्याकुल होओ, खूब तन्मय हो जाओ।

प्रश्न--महाराज, कृपा क्या conditional (कारण-सापेक्ष) होती है?

शरत् महाराज--हवा तो बह रही है। जो पाल खोल देगा, वह पायगा।

महाराज--ठाकुर कहते थे, 'गरमी लगने पर पंखा झलते हैं, पर ज्योंही हवा बहने लगती है, पंखा झलना बन्द कर देते हैं।'

प्रश्न--ठीक ठीक ईश्वरीय रूप के दर्शन हो रहे हैं या hallucination (मन की भूल) है, यह कैसे समझा जाय?

महाराज--ठीक ठीक दर्शन होने से बड़ा स्थायी आनन्द होता है। स्वयं का मन ही बतला देता है।

प्रश्न--महाराज, मुद्रा इत्यादि की क्या आवश्यकता है ?

महाराज--नाना प्रकार के influences (प्रभाव) हुआ करते हैं। कभी कभी देखोगे कि मन बहुत अच्छा है, लगता है कि ध्यान करने से अच्छी तरह ध्यान होगा, किन्तु बैठते ही ऐसा भी हो सकता है कि पाँच मिनट के अन्दर ही नाना प्रकार की दुश्चिन्ताएँ आकर मन को खराब कर दें। मुझमें एक बार मलिन भाव आ गया था। मुझे दूर से देखकर ही ठाकुर समझ गये थे। कहा था, 'देख रहा हूँ, तेरे भीतर मलिनता आ गयी है।' यह कह सिर पर हाथ रख उन्होंने बड़बड़ाते हुए कुछ शब्द कहे; बस त्योंही पाँच मिनट के अन्दर सारे कुभाव दूर हो गये। मन अगर ऊपर उठ जाय, तो ये सब influences (प्रभाव) वहाँ नहीं जा पाते।

प्रश्न--केवल जप-ध्यान लेकर रहना क्या कठिन नहीं है ?

महाराज--दो एक बार सफल नहीं हुए इसलिए

अभ्यास क्या छोड़ दोगे ? बारम्बार चेष्टा करनी होगी। अभ्यास करते करते स्थिति सहज हो जाती है।

स्थान--अद्वैत आश्रम, वाराणसी

३ फरवरी, १९२१

प्रश्न--महाराज, पूजा-पाठ, भजन आदि के बारे में आपने जो बतलाया था, क्या उस पूजा का अर्थ बाह्य-पूजा है ?

महाराज--पूजा कहने से बाह्य और मानस दोनों ही include (अन्तर्भुक्त) होते हैं। बाह्यपूजा में उपकरण की आवश्यकता होती है, उसका संग्रह करना तुम लोगों के लिए कठिन है। मानसपूजा ही सुविधाजनक है। मन ही मन पाद्य, अर्घ्य आदि देकर पूजा करना, फिर जप-ध्यान करना। मानस-जप में जिह्वा तक नहीं हिलनी चाहिए। साधारण जप में मंत्रोच्चारण करना पड़ता है।

ध्यान के समय इष्टमूर्ति का चिन्तन ज्योतिर्मय रूप से करना चाहिए, मानो उनकी ज्योति से सब कुछ आलोकित है। उस ज्योति को चैतन्यस्वरूप (immaterial) समझना। इस प्रकार का ध्यान बाद में सहज ही निराकार ध्यान में परिणत हो जाता है। तब हृदय में प्रत्यक्ष अनुभूति होती है--प्रतिबोधविदितं मतम्। उसके बाद ज्ञानचक्षु के खुल जाने पर प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। वह एक भिन्न ही जगत् है। यह जगत् मानो उससे सर्वथा भिन्न है, तब यह तुच्छ मालूम पड़ता है--जैसे उदि (महाराज के प्रिय बालक-रसोइये का नाम) कलकत्ते में

आकर शहर का ऐश्वर्य और सौन्दर्य देख कहने लगा, 'भुवनेश्वर तो कुछ भी नहीं है।' बाद में मन का लय हो जाता है—तब समाधि। उसके बाद निर्विकल्प। उसके बाद और भी आगे बढ़ने पर क्या है, यह मुख से नहीं बताया जा सकता। वहाँ न दर्शन है, न श्रवण—है केवल अनन्त और अनन्त! ये सब अनुभूति की बातें हैं। तब बलपूर्वक मन को इस जगत् में लाना पड़ता है—लगता है कि यह कुछ भी नहीं है। 'द्वैताद्वैतविवर्जितम्।' उस अवस्था में पहुँचकर कोई कोई शरीर को एक बड़ी बाधा समझ समाधि में उसका त्याग कर देते हैं। मानो घड़े को फोड़ डालना। ठाकुर एक सुन्दर दृष्टान्त देते थे—'दस टिकड़ों में पानी है, उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। एक एक टिकड़ा फोड़ते फोड़ते अन्त में एक टिकड़ा और एक सूर्य बच रहा। उसे भी फोड़ देने पर जो रहा, वही बचा—सत्यसूर्य बचा, यह कहना भी तब नहीं चलता। कौन कहेगा?'

प्रश्न—महाराज, ध्यान के समय यदि ईश्वर का सर्वव्यापी रूप से चिन्तन किया जाय, तो वह भी तो ध्यान है?

महाराज—यह तो करना ही पड़ता है, पर कुछ समय बाद। तब उन्हीं इष्ट का सबमें—जल में, स्थल में, पत्ते पत्ते में, आकाश में, नक्षत्र में, पहाड़ में, पर्वत में—सर्वत्र अनुभव होता है।

प्रश्न—अच्छा महाराज, शास्त्र कहते हैं कि यह

सब तत्त्व जानने के लिए गुरु-सेवा की आवश्यकता है।

महाराज——हाँ, पहली अवस्था में यह सच है, पर बाद में मन ही गुरु हो जाता है। गुरु के प्रति मनुष्य-बुद्धि नहीं रखनी चाहिए। सोचना चाहिए मानो उनका शरीर मन्दिर है और उसके भीतर भगवान् ही विराजमान हैं। इस तरह गुरु-सेवा करते करते गुरु के प्रति प्रेमाभक्ति होती है। गुरु के प्रति यह प्रेमाभक्ति ही बाद में फिर भगवान् की ओर मोड़ दी जा सकती है। गुरुमूर्ति का सहस्रार में ध्यान कर बाद में वहाँ गुरु को इष्ट में लीन करना चाहिए। ठाकुर बड़ी सुन्दर बात कहते थे, 'गुरु इष्ट को दिखाकर कहते हैं, ये तुम्हारे इष्ट हैं। फिर गुरु इष्ट में लीन हो जाते हैं।' गुरु इष्ट से अलग नहीं हैं। तत्त्व कितने हैं, यह मुँह से तुम्हें कैसे बतलाऊँ ? साधना में लग जाओ। साधन-भजन करते करते चित्त शुद्ध हो जाता है। तब जाने कितने अनुभव होते हैं, उसका कोई ठिकाना है ? साधक तब उन अनुभवों को लेकर विभोर रहता है। साधन-भजन करने से हृदय आदि में ध्यान का स्थान कहाँ पर है, यह भी समझ में आ जाता है।

प्रश्न——अच्छा महाराज, मुझे लगता है कि उस आनन्द का थोड़ा सा आभास किसी को मिले, तो वह आगे बढ़ सकता है।

महाराज——यह आनन्द की क्या बात कह रहे हो ? वहाँ आनन्द-निरानन्द कुछ भी नहीं है, सुख-दुःख कुछ भी नहीं है, भाव-अभाव कुछ भी नहीं है। आनन्द तो साध-

नावस्था की बात है। नौका जब तक destination (गन्तव्य स्थान) में नहीं पहुँचती, तभी तक अनुकूल हवा की आवश्यकता है--गन्तव्य स्थान में पहुँच जाने पर हवा-फवा की फिर कोई आवश्यकता नहीं। आनन्द इसी अनुकूल हवा के समान help (सहायता) करता है। ज्ञान ज्ञेय, ज्ञाता--सबका लय हो जाता है। शास्त्र में बस यहीं तक कहा है। पर बात क्या है जानते हो ? उसके बाद जो है, वह कहा नहीं जा सकता। साधन करने से वह सब स्वयं के अनुभव में आता है। वह भूमा वस्तु स्वयंसंवेद्य है। वहाँ कोई अभाव नहीं, कोई भय नहीं--बस, चिन्तन करने मात्र से मन ऊँचा उठ जाता है। कितने आनन्द की बात है! कोई कोई तो नित्य और लीला इन दोनों के दर्शन करते हैं।

प्रश्न--महाराज, नित्य में पहुँचने के बाद ही तो लीला है ?

महाराज--ऐसी कोई बात नहीं है, दोनों ही हैं। रासलीला जब हो रही थी, उस समय एक सखी ने अन्य एक सखी से कहा था, 'सखि, वेदान्तसिद्धान्तो नृत्यति।' वेदान्त-सिद्धान्त याने परब्रह्म, अर्थात् श्रीकृष्ण। यहाँ नित्य और लीला दोनों एक हैं। और भी एक अवस्था है, जो नित्य और लीला दोनों के अतीत है।

●

आचार्य मध्व--जीवन और दर्शन

ब्रह्मचारी दुर्गेश चैतन्य

(गतांक से आगे)

(५)

आचार्य मध्व के समकालीन भारत में, विशेषकर दक्षिण भारत में, दार्शनिक तर्क-वितर्क तथा शास्त्रार्थ का बहुत अधिक प्रचलन था। राजनैतिक दृष्टि से देश वहुत से छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों के राजा अपने दरवार में विद्वानों को आश्रय देते तथा समय समय पर शास्त्रार्थ-सभाओं का आयोजन कर विभिन्न स्थानों के विद्वान् पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित करते। पण्डितगण भी इन शास्त्रार्थ-सभाओं में बड़े उत्साह से भाग लेते।

शास्त्रार्थ धर्म-प्रचार तथा अपने मत के प्रतिपादन का भी एक सबल साधन था। विद्वान् संन्यासी तथा धर्म-प्रचारकगण देश के विभिन्न भागों की यात्रा करते। धार्मिक स्थलों तथा विद्यापीठों में जाकर वहाँ के विद्वानों को चुनौती देते। उनसे तर्क और शास्त्रार्थ कर अपने मत का प्रतिपादन करते।

उन दिनों कन्नड़ देश में जैन तथा बौद्धमत का भी बहुत अधिक प्रभाव था। इन मतों के विद्वान् साधकगण वैष्णवों तथा वेदान्तियों से तर्क-युद्ध के अवसर की प्रतीक्षा में रहते। अवसर मिलते ही ये लोग शास्त्रार्थ में अपने विरोधियों को परास्त कर अपने मत के प्रतिपादन का यत्न करते। उस समय बुद्धिसागर नाम के एक प्रख्यात

बौद्ध साधक थे। उन्होंने उडुपी मठ के विद्वान् संन्यासियों की ख्याति सुनी। वे स्वयं भी ख्यातिलब्ध विद्वान् थे। उन्होंने मन ही मन निश्चय किया कि वे उड़ुपी जाकर वहाँ के संन्यासियों को तर्क में परास्त करेंगे। वे अपने एक तर्ककुशल सहयोगी वादीसिंह* को साथ ले उडुपी मठ में आये। उस समय मध्व अपने सम्प्रदाय के एक दूसरे मठ में गये हुए थे। नवागन्तुकों की चुनौती सुन अच्युत-प्रकाश ने मध्व को बुला भेजा। गुरु का सन्देश पाकर मध्व तत्काल उड़ुपी लौट आये। आने पर उन्हें वस्तु-स्थिति का ज्ञान हुआ। वे तो शास्त्रार्थ के लिए सदैव ही तत्पर रहते।

शीघ्र ही उड़ुपी मठ में पण्डित-सभा का आयोजन किया गया। अनुभवी विद्वानों को निर्णायक नियुक्त किया गया। शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। पहले वादीसिंह ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया और मध्व के मत के विकल्प में अठारह उक्तियाँ उपस्थित कीं। मध्व ने अपने प्रखर तर्कों के द्वारा उन सभी युक्तियों को खण्ड खण्ड कर दिया। फिर उन्होंने अपने मत के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये। अब वादी-सिंह से उत्तर देते न बना। तब सामने आये बुद्धिसागर। वे भी मध्व के तर्कों का समुचित उत्तर न दे सके। उन्होंने शास्त्रार्थ को दूसरे दिन तक स्थगित रखने का प्रस्ताव किया। निर्णायकगण सहमत हो गये। दूसरे दिन यथा-

* वादीसिंह, तर्कपंचानन, प्रतिवादीभयंकर आदि ऐसी उपाधियाँ थीं, जो विलक्षण तर्ककुशल व्यक्तियों को उन दिनों दी जाती थीं।

समय निर्णायकगण तथा अन्य विद्वान् मठ में उपस्थित हुए। इस अद्भुत शास्त्रार्थ को सुनने के लिए जनता भी बड़ी संख्या में उपस्थित हुई। आचार्य मध्व भी सभा में आकर यथास्थान बैठ गये। किन्तु वादीसिंह और बुद्धिसागर अभी तक नहीं आये थे। समय बीतता जा रहा था। अतः उन दोनों विद्वानों को लिवा लाने के लिए दूत भेजे गये। किन्तु उन तर्कशूरों का कहीं पता न चला। वे लोग रात्रि में ही उडुपी छोड़कर चले गये थे। इस प्रकार अनायास ही मध्व इस सभा में विजयी हुए।

अपने प्रिय शिष्य की सफलता से वृद्ध आचार्य अच्युत-प्रकाश अत्यन्त प्रसन्न हुए। पर उन्होंने सोचा--मध्व जिस भक्तिपरक मतवाद का प्रचार करना चाहता है, वह कार्य उडुपी मठ में ही बैठकर तो सम्पन्न होगा नहीं, उसके लिए देश के विभिन्न भागों के धर्मस्थानों तथा विद्यापीठों में जाना होगा। वहाँ के विद्वानों तथा आचार्यों से चर्चा करनी होगी। उनके सामने अपना नवीन मतवाद रखना होगा। यदि लोग शास्त्रार्थ की चुनौती दें, तो उसे भी स्वीकार करना होगा। तव कहीं जाकर नये मतवाद की स्थापना और प्रचार सम्भव हो सकेगा।

ऐसा विचार कर एक दिन आचार्य ने मध्व को अपने पास बुलाया और कहा, "वत्स! तुम्हारी साधना और स्वाध्याय से मैं प्रसन्न हूँ। तुम भक्तिपरक नये मत-वाद का प्रचार करना चाहते हो यह भी मैं जानता हूँ। किन्तु यह कार्य केवल उडुपी मठ में बैठे रहकर सम्पन्न

न हो सकेगा। इसके लिए तुम्हें देश के विभिन्न धर्मक्षेत्रों और विद्यापीठों में जाना होगा। वहाँ जाकर अपने मत का प्रतिपादन और प्रचार करना होगा। आवश्यकता पड़ने पर शास्त्रार्थ में विरोधियों को पराजित करना होगा। तभी तुम अपने मतवाद का प्रचार-प्रसार कर पाओगे। मेरी इच्छा है कि पहले तुम दक्षिण भारत के प्रमुख स्थानों की यात्रा करो। इधर का कार्य समाप्त कर तब उत्तर की ओर जाना।"

(६)

गुरु की इच्छा जानकर मध्व बड़े प्रसन्न हुए। शीघ्र ही एक शुभ दिन देखकर, गुरु को साथ ले वे दक्षिण भारत की यात्रा पर निकल पड़े। उडुपी से मँगलौर होते हुए मध्व विष्णुमंगल तीर्थ में पहुँचे। इस यात्रा में उन्होंने अपनी कुछ योगविभूतियों का भी परिचय दिया। एक स्थान पर भरपेट भोजन कर लेने के पश्चात् यजमान ने दो सौ केलों का एक घेर मध्व के सामने लाकर रखा और उनसे उसमें से कुछ फल लेने का आग्रह करने लगा। उपस्थित लोगों के देखते ही देखते मध्व ने उन दो सौ केलों को उदरस्थ कर लिया!

विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते तथा शास्त्रों में विजयी होते हुए मध्व त्रिवेन्द्रम पहुँचे। वहाँ के तत्कालीन राजा बड़े ही विद्याप्रेमी और श्रद्धालु थे। मध्व की राजा से भेंट हुई। राजा ने उन्हें उपहार आदि देना चाहा। किन्तु मध्व ने कहा, "महाराज, हम लोग संन्यासी हैं।

हमें राजकीय उपहारों से क्या प्रयोजन ? आप विद्यानु-रागी तथा धार्मिक हैं। मेरा निवेदन है कि आप शीघ्र ही विद्वानों की एक सभा का आयोजन करें तथा उसमें अद्वैतवेदान्त के किसी आचार्य को आमंत्रित करें। मैं उनसे शास्त्रार्थ करूँगा तथा शुष्क अद्वैतवाद के सिद्धान्तों का खण्डन कर उसके स्थान पर भक्तिपरक द्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करूँगा। मेरा मत श्री रामानुज के विशि-ष्टाद्वैत से भी भिन्न है।"

पास ही शृंगेरी मठ की गद्दी पर उस समय विराज-मान थे अद्वैतवेदान्त के मूर्धन्य आचार्य स्वामी विद्या-शंकर जी महाराज। वे त्रिवेन्द्रम के राजा के गुरु भी थे। समस्त दक्षिण भारत में अद्वैतवेदान्त के श्रेष्ठ आचार्य एवं व्याख्याता के रूप में उनकी ख्याति फैली हुई थी। राजा ने अपने गुरु को तरुण संन्यासी मध्वाचार्य के आने की सूचना दी और उनका मन्तव्य कहला भेजा।

समाचार पा विद्याशंकर महाराज पधारे। राजा ने एक विराट् पण्डित-सभा का आयोजन किया, जिसमें अनेकों विद्वान् उपस्थित हुए। यथासमय शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। वयोवृद्ध शृंगेरी मठाधीश श्री विद्याशंकर महाराज के सामने तरुण तपस्वी श्री मध्व न टिक सके। उन्हें पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

त्रिवेन्द्रम से मध्व सीधे रामेश्वर चले गये। यह चातुर्मास का काल था। अतः उन्होंने इस तीर्थ में ही रहकर तपस्या-स्वाध्याय आदि में चातुर्मास यापन करने

का निश्चय किया। यहाँ भी अद्वैतवादी संन्यासी तथा पण्डितगण मध्वाचार्य के पास शास्त्रार्थ करने आते। किन्तु तपस्यारत आचार्य ने चातुर्मास के काल में किसी भी शास्त्रार्थ में भाग नहीं लिया। वे अपना समय इष्टचिन्तन और स्वाध्याय में ही व्यतीत करते।

चातुर्मास समाप्त कर मध्व रामेश्वरम् से श्रीरंगम पधारे। वहाँ कुछ दिन रहकर भगवान् नारायण की पूजा-उपासना की। वहाँ से वे आये विष्णुकांची। उनके आगमन का समाचार सुन बहुत से शैव तथा अद्वैतवादी संन्यासियों ने उन्हें आ घेरा और शास्त्रार्थ की चुनौती दी। आचार्य मध्व चातुर्मास की तपस्या के पश्चात् दूसरे ही भाव में थे। उन्होंने सहर्ष विरोधियों की चुनौती को स्वीकार कर लिया। एक ओर आचार्य मध्व अकेले और दूसरी ओर शैव तथा अद्वैती संन्यासियों का विशाल दल। किन्तु आचार्य मध्व की दैवी प्रतिभा के सामने संन्यासीदल की सामूहिक बुद्धि भी न टिक सकी। मध्व के कण्ठ में मानो स्वयं सरस्वती ही विराज रही थीं। उनके मुख से शास्त्रों की अद्वितीय व्याख्या निर्झर की भाँति प्रवाहित हो रही थी। विरोधी उनकी प्रतिभा के सम्मुख हतप्रत हो उठे। उन्हें पराजय स्वीकार करनी ही पड़ी। विष्णुकांची, शिवकांची तथा आसपास के क्षेत्र आचार्य मध्व के जय-जयकार से गूँज उठे।

विष्णुकांची से मध्व उड़ुपी मठ लौट आये। आकर वृद्ध गुरु के चरणों में प्रणाम किया और अपनी यात्रा का

वत्तान्त उन्हें सुनाया । वयोवृद्ध आचार्य ने यह भाँप लिया कि दक्षिण के तीर्थों की यात्रा करने के पश्चात् भी मध्व के मन में वह उत्साह और उमंग नहीं, जिसकी कि उन्होंने आशा की थी ।

उन्होंने मध्व से कहा, "वत्स, तुम्हारी दक्षिण-यात्रा के प्रारम्भिक पड़ावों के पश्चात् मैं तो उड़ुपी मठ लौट आया । पर तुमने तो दक्षिण के सभी प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया है । रामेश्वरम् में तुमने चातुर्मास किया । फिर भी तुम्हारे मन में पर्याप्त उमंग और उत्साह क्यों नहीं है ?"

मध्व ने निवेदन किया, "भगवन्, आपके आशीर्वाद से मेरी तीर्थयात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हुई । मुझे आवश्यकता-नुसार सभी सुविधाएँ उपलब्ध रहीं । आपकी कृपा से अनेक पण्डित-सभाओं में शास्त्रार्थों में विजयी भी रहा । किन्तु शृंगेरी मठ के मठाधीश विद्याशंकर से मुझे पराजित होना पड़ा । इस पराजय की ग्लानि को मैं अभी तक नहीं भूल पाया हूँ । यही मेरी पीड़ा तथा उत्साहहीनता का कारण है ।"

आचार्य अच्युतप्रकाश ने गम्भीर स्वर में कहा, "वत्स ! आचार्य विद्याशंकर के हाथों तुम्हारी पराजय तुम्हारे कल्याण के लिए ही है । इस पराजय के द्वारा तुमने यह देख लिया कि तुम्हारे मतवाद में अभी कुछ त्रुटियाँ हैं । तुम्हें उन त्रुटियों को दूर करना होगा । अपने मत के पक्ष में शास्त्रसम्मत सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करने

होंगे। अभी तो तुम शृंगेरी मठाधीश के सम्मुख ही अपने मत का प्रतिपादन न कर सके। भारत के अन्य भागों में तो और भी कई अद्वैत मठ तथा गण्यमान्य आचार्यगण हैं। अपना मत प्रतिपादित करने के लिए तुम्हें उन सबसे भी तो शास्त्रार्थ करना पड़ सकता है। अतः इस पराजय से दुःखी और निराश न होकर अपने मत की त्रुटियों की ओर देखो तथा उनका निराकरण करो। स्वाध्याय और साधना द्वारा स्वयं को भी परिमार्जित करो।"

गुरु की बातों से मध्व को एक नयी दिशा मिली। उन्होंने कहा, "गुरुदेव, आप ठीक कहते हैं। अपने मत के समर्थन में जब तक मेरे पास हमारे शास्त्रों का दार्शनिक आधार नहीं होगा, तब तक विद्वानों के सामने अपने मत को मैं ठीक ठीक प्रस्तुत नहीं कर पाऊँगा। इसलिए अपने भक्ति-परक द्वैतमत के अनुसार मैं ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य की रचना करूँगा। आप आशीर्वाद दें कि मैं इस कार्य में सफल हो सकूँ।"

वृद्ध आचार्य ने अपने अद्वितीय प्रतिभाधर शिष्य को हृदय से लगा लिया और कहा, "वत्स, सूत्रभाष्य की रचना करने के पूर्व तुम गीता पर एक भाष्य की रचना करो।"

गुरु की आज्ञानुसार मध्व ने पहले गीता पर एक भाष्य की रचना की।

(७)

वरिष्ठ संन्यासियों से श्री मध्व ने सुन रखा था कि बदरीधाम में अभी भी भगवान् वेदव्यास विराजमान हैं

तथा कभी कभी कृपा कर भक्तों को दर्शन भी देते हैं। मध्व ने निश्चय किया कि वे बदरीनाथ जाकर भगवान् वेदव्यास के दर्शन करने का प्रयत्न करेंगे।

ऐसा निश्चय कर वे अपने कुछ चुने हुए शिष्यों तथा भक्तों के साथ बदरीधाम की यात्रा पर निकल पड़े। मार्ग की विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए मध्व अपने दल के साथ बदरीनाथ पहुँचे। वहाँ पहुँच उन्होंने आनन्द मठ नामक स्थान पर डेरा डाला। यहाँ रहकर भगवान् वेदव्यास के दर्शन पाने के लिए वे कठोर साधना में लग गये। उन्होंने मौनव्रत ले लिया तथा सदैव ही वे भगवान् की उपासना और ध्यान में लगे रहते।

कठोर तपस्या में मध्व ने पर्याप्त समय बिताया। एक दिन संकेत से उन्होंने अपने शिष्यों को पास बुलाया तथा एक पत्र में आशीर्वाद देते हुए लिखा कि 'मैं भगवान् श्री वेदव्यास के दर्शन करने हिमालय की अत्यन्त दुरूह गुफा में जा रहा हूँ, तुम लोग कोई भी मेरे पीछे न आना। मेरा लौटना न लौटना भगवान् विष्णु की इच्छा पर निर्भर है।'

शिष्यगण पत्र पढ़कर दुखी हुए। किन्तु कोई उपाय न था। उन सबके देखते देखते मध्व अलंघ्य ऊँचाई पर चढ़कर सबकी दृष्टि से ओझल हो गये। कठोर तपस्या तथा हिमालय की दुर्गम ऊँचाई को पार करने के फलस्वरूप मध्व की इच्छा पूर्ण हुई। भगवान् वेदव्यास ने कृपा पूर्वक उन्हें दर्शन दिया तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की अनुमति दी।

भगवान् व्यास के दर्शन कर तथा सूत्र पर भाष्य-रचना का आशीर्वाद पा श्री मध्व अपने शिष्यों तथा भक्तों के पास लौट आए। लौटकर उन्होंने भाष्य-रचना का कार्य हाथ में लिया। उनके एक पट्ट शिष्य सत्यतीर्थ लेखक बने। आचार्य मध्व ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करते जाते और सत्यतीर्थ उन्हें लिखते जाते।

हिमालय से उतरकर मध्व गोदावरी तथा गंजाम की ओर गये। मार्ग में नये सूत्रभाष्य की कई प्रतियाँ तैयार कर ली गयीं। उनमें से एक प्रति आचार्यप्रवर अच्युतप्रकाश के पास उडुपी भेज दी गयी।

हिमालय से उतरने के पश्चात् गोदावरी के तट पर ही आचार्य मध्व की प्रथम महान् विजय हुई और उन्हें विलक्षण शिष्य तथा अनुयायी प्राप्त हुए। गोदावरी के तट पर पहुँचकर आचार्य मध्व ने देखा कि वहाँ आसपास के विभिन्न मतावलम्बी पण्डितों का एक विशाल सम्मेलन जुड़ा हुआ है। सभी लोग अपनी विद्वत्ता तथा तर्कनैपुण्य की यथोचित परीक्षा देकर राज-सम्मान प्राप्त करने की आशा से वहाँ आये हैं। आचार्य मध्व ने वहाँ समवेत प्रमुख प्रमुख भट्ट, मीमांसक, प्रभाकर, वैशेषिक नैयायिक, बौद्ध, चार्वाक आदि पण्डितों को चुनौती दी। आचार्य की दैवी प्रतिभा तथा अगाध शास्त्रज्ञान के सामने कोई भी न टिक सका।

इन पण्डितों में शोभन भट्ट नाम के एक महान् विद्वान् पण्डित थे। उन्होंने आचार्य से खूब लोहा लिया।

किन्तु अन्ततोगत्वा आचार्य की प्रतिभा के सामने उन्हें भी पराजय स्वीकार करनी पड़ी।

शोभन भट्ट सही अर्थों में विवेकवान् पण्डित थे। शास्त्रार्थ में पराजित होने पर उनके मन में प्रतिद्वन्द्वी के प्रति शत्रुता या आक्रोश का भाव नहीं आया। उल्टे आचार्य की अद्वितीय दैवी प्रतिभा देख भट्ट के मन में श्रद्धा जागी। उन्होंने मन ही मन यह निश्चय कर लिया कि इस महापुरुष का शिष्यत्व ग्रहण कर शास्त्रों का यथार्थ मर्म समझ जीवन को धन्य कर लेना चाहिए।

ऐसा निश्चय कर शोभन भट्ट नें आचार्य मध्व के चरणों में प्रणाम किया और अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। भट्ट की निष्ठा देख आचार्य मध्व ने भी कृपापूर्वक उन्हें अपना शिष्य बना लिया। यही शोभन भट्ट परवर्ती काल में पद्मनाभतीर्थ के नाम से विख्यात हुए।

इसी समय एक दूसरे विद्वान् समा शास्त्री आये। उनका जन्म एक उच्च कुल में हुआ था। उनके पिता कलिंगराज के दरबार में एक उच्च पद पर आसीन थे। वैभव और सम्पन्नता में समा शास्त्री का जन्म हुआ था। सरस्वती की भी उन पर असीम कृपा थी। तरुण अवस्था में ही वे विभिन्न शास्त्रों के पारंगत विद्वान् हो गये थे। धार्मिक जीवन की ओर उनकी तीव्र रुचि थी। आचार्य मध्व की सुख्याति उन्होंने पहले भी सुनी थी, पर जव उन्होंने सुना कि विद्वान् पण्डित शोभन भट्ट आचार्य के शिष्य हो गये हैं, तो आचार्य के प्रति उनकी श्रद्धा शत-

गुनी हो उठी। वे आचार्य के निकट आये और चरणों में प्रणाम कर उन्हें भी शरण में रख लेने का निवेदन किया। आचार्य ने जब नवागन्तुक की निष्ठा और तीव्रता देखी, तो कृपापूर्वक उसे भी शिष्य बना लिया। इनका नाम नरहरितीर्थ हुआ तथा पद्मनाभतीर्थ के पश्चात् ये ही मठाधीश बने।

(क्रमशः)

•

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चंद्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) व्यर्थ की जिज्ञासा

एक बार मलुक्यपुत्र गौतम बुद्ध के पास आकर बोला, "भगवन्! आपने आज तक यह कभी नहीं बताया कि मृत्यु के उपरान्त पूर्ण बुद्ध रहते हैं, या नहीं ?"

इस पर बुद्धदेव बोले, "हे मलुक्यपुत्र ! मुझे यह बताओ कि भिक्षु होते समय क्या मैंने तुमसे यह कहा था कि तुम मेरे ही शिष्य बनना ?"

मलुक्यपुत्र ने नकारात्मक उत्तर दिया।

तब बुद्धदेव बोले, "यदि किसी व्यक्ति के शरीर में अचानक एक विषैला बाण आकर लगे और तब वह यह कहे कि जब तक उसे यह मालूम नहीं होता कि बाण मारने वाले की जाति कौनसी है, वह बाण नहीं निकालेगा और न ही कोई इलाज कराएगा, तब मलुक्य पुत्र ! भला बताओ तो, इस स्थिति में उसका क्या होगा ?"

"तब तो निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जाएगी", मलुक्यपुत्र ने जवाब दिया।

बुद्धदेव बोले, "तुम ठीक कहते हो, मगर इसके लिए जिम्मेदार बाण मारनेवाले से कहीं अधिक वह स्वयं होगा, क्योंकि उसने व्यर्थ का हठ किया था। ठीक इसी प्रकार हे मलुक्यपुत्र ! तुम भी व्यर्थ की बातों के प्रति अपनी जिज्ञासा क्यों प्रकट करते हो ? जो कुछ मैंने प्रकट किया है, उसे ही जानने और वैसा आचरण करने का प्रयत्न करो, इसी में तुम्हारा कल्याण है। जिसे मैंने

अव तक प्रकट नहीं किया है, उसे अप्रकट ही रहने दो, क्योंकि उसे जानने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

(२) सच्ची उपासना

एक वार गुरु नानक सुल्तानपुर पहुँचे। वहाँ उनके प्रति लोगों की श्रद्धा देख वहाँ के काजी को ईर्ष्या हुई। उसने सूवेदार दौलतखाँ के खूव कान भरे और शिकायत की कि यह कोई पाखण्डी है, इसीलिए आज तक नमाज पढ़ने कभी नहीं आया।"

सूबेदार ने नानकदेव को बुलावा भेजा, किन्तु उन्होंने उस ओर ध्यान नहीं दिया। जब सिपाही दुवारा बुलाने आया, तो वे उसके पास गये। उन्हें देखते ही सूबेदार ने डाँटते हुए पूछा, "पहली वार बुलाने पर क्यों नहीं आये?"

"मैं खुदा का बन्दा हूँ, तुम्हारा नहीं," नानकदेव ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया।

अच्छा! तो तुम खुद को 'खुदा का वन्दा' भी कहते हो। मगर क्या तुम्हें यह मालूम है कि किसी व्यक्ति से मिलने पर पहले उसे सलाम किया जाता है?"

"मैं खुदा के अलावा और किसी को सलाम नहीं करता।"

"तव फिर खुदा के बन्दे! मेरे साथ नमाज पढ़ने चल," क्रोधित हो सूबेदार बोला।

और नानकदेव उसके साथ मस्जिद गये। सूबेदार और काजी तो नीचे बैठकर नमाज पढने लगे, मगर गुरुनानक वैसे ही खड़े रहे। नमाज पढ़ते पढ़ते काजी

सोचने लगा कि आखिर उसने इस दम्भी (नानकदेव) को झुका ही दिया, जबकि सूबेदार का ध्यान घर की ओर लगा हुआ था। बात यह थी कि उस दिन अरब का एक व्यापारी बढ़िया घोड़े लेकर उसके पास आनेवाला था। वह सोचने लगा कि शायद व्यापारी उसका इन्तजार करता होगा, इसलिए नमाज जल्दी खत्म हो, तो वह घर जाकर सौदा तय करे।

नमाज खत्म होने पर वे दोनों जब उठ खड़े हुए, तो उन्होंने नानकदेव को चुपचाप खड़े पाया। सूबेदार को गुस्सा आया, बोला, "तुम सचमुच ढोंगी हो। ख़ुदा का नाम लेते हो, मगर नमाज नहीं पढ़ते।"

"नमाज पढ़ता भी तो किसके साथ ?" नानकदेव बोले, "क्या तुम लोगों के साथ, जिनका ध्यान खुदा की तरफ था ही नहीं ? अब आप ही सोचिए, क्या आपका ध्यान उस समय बढ़िया घोड़े खरीदने की तरफ था या नहीं ? और ये काजीजी तो उस समय मन ही मन खुश हो रहे थे कि उन्होंने मुझे मस्जिद में लाकर बड़ा तीर मार दिया था !"

यह सुनते ही दोनों झेंप गये और गुरु नानक के चरणों पर गिरकर उन्होंने क्षमा माँगी।

(३) विश्व प्रेम

स्वामी दयानन्द ने फर्रुखाबाद में गंगा के किनारे एक झोपड़ी में अपना डेरा डाला था। कैलास नामक एक युवक की उन पर बड़ी श्रद्धा थी। एक दिन वह

उनके पास आया और उसने अन्दर आने की अनुमति माँगी।

दयानन्द हँसते हुए बोले, "यदि कैलास इस छोटे से झोपड़े में प्रवेश कर सकता है, तो उसे अवश्य आना चाहिए।"

अन्दर आते ही वह बोला, "स्वामीजी ! आज मैं आपके पास किसी खास उद्देश्य से आया हूँ। बात यह है कि मेरे मन में रह-रहकर यह विचार उठता है कि इतनी साधना करने के बाद जब आप मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी हो गये हैं, तब फिर आप इस संसार की चिन्ता क्यों करते हैं ?"

प्रश्न सुनकर स्वामीजी मुसकरा दिये, बोले, "कैलास! यह भी कोई प्रश्न है ? जब मुझे साफ साफ दिखायी दे रहा है कि संसार में जहाँ-तहाँ अशान्ति है, यह अश्रु सागर में डूब रहा है, दुखों की अग्नि में झुलस रहा है, अत्याचारों से त्रस्त है, तब भला ऐसी स्थिति में उसे नजर अन्दाज कैसे कर सकता हूँ। मैं मोक्ष-प्राप्ति का इच्छुक नहीं हूँ, न ही शान्तिपूर्वक मुक्ति चाहता हूँ। मैं मुक्त होऊँगा, तो सबको साथ लेकर, अन्यथा मुझे मुक्ति नहीं चाहिए। कैलास ! इसे अच्छी तरह समझ लो कि जो सच्चे हृदय से जनार्दन से प्यार करना चाहता है, उसे चाहिए कि वह जनता से, जो कि जनार्दन की ही कृति है, पहले प्यार करे, तभी जनार्दन का प्यार उसे मिलेगा।"

(४) हिकमत

महाराष्ट्र के सन्त गाडगे महाराज नांदेड़ जिले में

स्थित एक ग्राम में गये । तब इस इलाके पर निजाम का अधिकार था और उसने हरि कीर्तन पर पाबन्दी लगा दी थी, क्योंकि उसे डर था कि कहीं इससे जाति-द्वेष न फैले । मगर इसके बावजूद गाडगे महाराज ने कीर्तन की घोषणा कर दी । उनका कीर्तन सुनने के लिए लोग झुण्ड के झुण्ड एकत्रित होने लगे । बात पुलिस तक जा पहुँची और कीर्तन रोकने के लिए संगीनधारी सिपाहियों को भेजा गया । पुलिस-अधिकारी महाराज के पास आया और उसने सलाम किया । प्रत्युत्तर में उन्होंने भी प्रणाम किया और पूछा, "कहिए क्या हुक्म है ?"

"गाडगे बाबा आप ही है न ?" अधिकारी ने पूछा ।

"हाँ, लोग मुझे गाडगे बुवा कहते हैं," बाबा ने शान्त स्वर में उत्तर दिया ।

"आज क्या आप तकरीर-भाषण करनेवाले हैं ?"

"कीर्तन करने का मेरा विचार है ।"

"मगर क्या आपको मालूम नहीं कि इस पर पाबन्दी लगी हुई है ।"

"आपके सुपरिन्टेडेंट साहब को मेरा आदाब-अर्ज कह देना ।"

"आप तो उर्दू अच्छी बोल लेते हैं !"

"क्या आप मुसलमान हैं ?"

"हाँ ।"

"तब तो कुरान रोज पढ़ते होंगे ?"

"कभी कभी ।"

"जानते हो, मुहम्मद साहब ने कुरान में क्या कहा है?"
"आप किस सिलसिले में कह रहे हैं, मैं नहीं समझा।"
"अच्छा बताओ, दुनिया को किसने बनाया?"
"अल्लामियाँ ने।"
"अच्छा, आसमान को?"
"उसी ने।"
"दरिया को?"
"उसी ने बनाया।"
"और हिन्दू–मुसलमानों को?"
"ये भी उन्हीं की देन है।"
"मुसलमानों को नमाज पढ़नी चाहिए न?"
"जरूर।"
"और हिन्दुओं को?"
"वे चाहें, तो इबादत कर सकते हैं।"
"और पूछूँ?"
"पूछिए।"
"मरने के बाद क्या होगा?"
"मेरी लाश दफनायी जाएगी।"
"उस लाश का क्या होगा?"
"वह मिट्टी हो जाएगी।"
"हिन्दुओं की लाश की भी मिट्टी होती होगी?"
"जी हाँ।"
"तब तो ये दोनों एक समान होंगे।"
"बेशक!"

"अरे, रात हो गयी ! आपके नमाज का वक्त तो हो ही गया होगा ?"

"हाँ, मगर मैं थोड़ी देर से पढ़ूँगा ।"

"क्या मैं थोड़ी इबादत कर लूँ ?"

"जरूर! इबादत पर पाबन्दी नहीं है, कीर्तन पर है ।"

फिर लोगों को सम्बोधित कर बाबा बोले, "आइकल हो, बापा हो ! साहेबानं भजन कऱ्याले परवानगी देल्ली आहे, बोला समधिजनं--'देवकीनन्दन गोपाला, रामदेव, तुकाराम' (सुना, आप लोगों ने ? साहब ने भजन करने की अनुमति दे दी है, आओ भजन करें....) ।"

और वे भजन के साथ भगवन्महिमा का बखान करने लगे। इस प्रकार उन्होंने बड़ी चतुराई से उस पुलिस-अधिकारी के साथ सम्भाषण से ही कीर्तन प्रारम्भ कर दिया और नियत समय में समाप्त किया, मगर वह अधिकारी इसे बिलकुल समझ नहीं सका, क्योंकि उसकी धारणा थी कि कीर्तन में पेटी, तबला, सितार का ही सहारा लिया जाता है ।

(५) झूठ की कमाई

हजरत अबूबक्र मुसलमानों के पहले खलीफा थे । हजरत मुहम्मद साहब के बाद खलीफा के रूप में उन्हें ही चुना गया था । एक बार उनके एक गुलाम ने, जो कि उनका शिष्य था, उन्हें खाने के लिए मिठाई दी । उन्होंने जब मिठाई खायी, तो उन्हें वह बड़ी ही स्वादिष्ट लगी । उन्होंने गुलाम से पूछा कि उसने इतनी बढ़िया

मिठाई कहाँ से पायी ? गुलाम ने बताया कि उसे उसके एक दोस्त ने दी थी ।

हज़रत ने पूछा, "क्या तुमने कभी उसका कोई काम किया है ?"

"काम तो नहीं, मगर वहुत दिनों पहले मैं लोगों का हाथ देखकर उनका भाग्य वताया करता था । तभी मैंने इस दोस्त का भी भविष्य वताया था ।"

"क्या तुम्हें ज्योतिष-शास्त्र का ज्ञान है ? क्या तुम्हारी वातें सच्ची निकली थी ?"

"जी नहीं, मैं तो पैसे कमाने के लिए झूठमूठ कुछ भी वता देता था । अगर मुझे उसका ज्ञान होता, तो खुद का ही भविष्य नहीं जान पाता ?"

यह सुनते ही अबूवक्र को वड़ा ही दुःख हुआ, बोले, "यानी तुम्हारे दोस्त ने तुम्हें जो इतनी वढ़िया मिठाई दी है, वह तुम्हारे द्वारा झूठ बोलने के एहसान के ऐवज में दी और तुमने मुझे वह खिला दी है !" उन्होंने पानी पीकर मुँह में उँगलियाँ डालकर वह मिठाई वाहर निकाली । यह देख गुलाम को वड़ा ही पश्चात्ताप हुआ । तब वे बोले, "आज से ध्यान रखना, न तो कभी झूठ बोलना और न किसी की झूठी कमाई खाना, और न खिलाना ।"

(६) जिस तन लागे, सो तन जाने

"अरे नामू ! तेरी धोती में तो खून लगा हुआ है ! कहीं चोट तो नहीं लगी ?" माँ ने बेटे से पूछा ।

"हाँ, माँ ! मैंने अपने पैर पर कुल्हाड़ी से वार

किया है, नामू ने उत्तर दिया। माँ ने धोती सरकायी तो पाया कि बेटे के पैर की चमड़ी छिली हुई है; बोली, "मूर्ख ! कहीं कोई अपने ही पैर पर घाव करता है ? क्या तुझे इससे वेदना नहीं हो रही ? अरे, यह घाव पक जाय, तो तेरा पैर काटने की नौबत आ सकती है !"

"तब तो पेड़ पर कुल्हाड़ी का वार करने से उसे भी चोट और वेदना होती होगी, माँ! उस दिन तूने मुझसे पलास के पेड़ से छाल मँगायी थी, तब मैंने कुल्हाड़ी से ही छीलकर तो छाल निकाली थी। मैंने उसी समय सोचा था कि अपने पैर को छीलकर देखूँ, तो मालूम हो जाएगा कि पेड़ को कैसा लगा होगा। बस यही देखने के लिए मैंने वार किया है, माँ !"

बेटे के ये शब्द सुनते ही माता रो पड़ी, बोली, "बेटा निश्चय ही तू आगे चलकर महान् बनेगा। सच है कि पेड़ और दूसरे जीव-जन्तुओं में भी प्राण होते हैं और उनपर वार करने से हमारी जैसी ही वेदना उन्हें भी होती है, बेटा !"

बड़ा होने पर यही 'नामू' सन्त नामदेव के नाम से विख्यात हुआ।

(७) जिन खोजा, तिन पाइयाँ

एक बार बालक दादू अपने मित्रों के साथ खेल रहे थे कि एक साधु वहाँ आया और उसने बालक दादू के मुख में पान की पीक डाल दी। अबोध बालक की समझ में कुछ नहीं आया। बाद में संसार के प्रति उसे विरक्ति हो गयी। वह संसार की अनित्यता और नश्वरता का विचार कर

घर त्यागने की बात तो सोचता, पर उसे अमल में न ला पाता।

जब दादू अठारह वर्ष के हुए, तो वही बूढ़ा साधु फिर उनके पास आया। उसे देखते ही दादू को लगा कि इसे उन्होंने कहीं देखा है। देखा ही नहीं, इससे भेंट भी हुई है। और उन्हें याद हो आया कि यह तो वही साधु है, जिसने मेरे मुँह में पीक डाली थी। वे तुरन्त साधु के चरणों पर गिर पड़े और उनकी चरणधूलि माथे पर चढ़ा ली। इस पर साधु बोला, "मै तो तुम्हारे पास भिक्षा माँगने क्षण भर के लिए आया था और तुम हो कि मेरे प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर रहे हो, लेकिन प्रभु तो तुम्हारी युग युग से प्रतीक्षा कर रहे है और तुम्हारा उधर ध्यान ही नहीं। वे ही तो तुम्हें भवसागर पार करा सकते है। यदि तुम ईश्वरोन्मुख होगे, तो तुम्हारे जन्म जन्म के बन्धन कट जाएँगे।"

"ईश्वर के पास तो मैं जा नहीं सकता। मैं तो आपको ही सर्वस्व मानूँगा। मैं आपकी ही प्रतीक्षा कर रहा था। संसार-सागर में मैं घिर गया हूँ, आप ही मेरा उद्धार करें और मुझे उबार लें," दादू बोले। साधु ने उन्हें गले लगा लिया और दीक्षा देकर परम ज्ञान की ज्योति उनके हृदय में फैला दी। ज्ञान का प्रकाश मिलते ही वे 'सन्त' हो गये। कहा जाता है कि यह साधु कबीर के पुत्र कमाल थे। उपर्युक्त घटना की दादू ने निम्न दोहे में स्वीकृति दी है—

गैब माहि गुरुदेव मिला, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धऱ्या, पाया अगम अगाध॥

रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की विश्व को देन

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह का २३ जनवरी, १९७७ को उद्-घाटन करते हुए पण्डितजी ने जो भाषण दिया था, वही प्रस्तुत लेख के रूप में प्रकाशित हो रहा है।)

स्वामी विवेकानन्दजी के व्यक्तित्व का हम जितना चिन्तन करते हैं, उसकी व्यापकता उतनी ही हमारे समक्ष प्रकट होती है। विविध ग्रन्थों के माध्यम से तथा राम-कृष्ण मिशन, जो कि उनके संकल्प का परिणाम है, के सेवा-कार्यों के माध्यम से हमें उनके व्यक्तित्व की एक छोटीसी झाँकी देखने को मिलती है। पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते है कि उनमें जो विलक्षण क्षमता थी, उसके पीछे कौन से तत्त्व विद्यमान थे, तो हमारा ध्यान स्वभावत: उस मूलधारा के उद्गम की ओर चला जाता है, जहाँ भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव विद्यमान हैं, जिनकी प्रेरणा से वे पश्चिमी देशों में गये और वहाँ के निवासियों को भारत तथा भारत के धर्म की ओर देखने की एक नयी दृष्टि प्रदान की। फलस्वरूप भारत-वासियों को भी देखने की एक नयी दृष्टि प्राप्त हुई और उन्हें विवेकानन्दजी के व्यवितत्व की महत्ता का परिचय मिला।

पर कभी कभी इस प्रकार के मनोभाव को आलोचना का भी हेतु समझा जाता रहा है। यह जो हमारी प्रवृत्ति

है कि हम लोग किसी व्यक्ति को तब समादर देते हैं, जब विदेश में उसे आदर प्राप्त हो, ऐसी प्रवृत्ति को एक प्रकार से हीनता की भावना का परिणाम मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि हम स्वयं भी अपनी दृष्टि के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। फलत: जो हमारे शासक रह चुके हैं अथवा जो हमें अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ दिखायी देते हैं, हम उनकी दृष्टि से व्यक्ति के मूल्य को आँकने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि हम अपने विशिष्ट पुरुषों को भी विदेश के विशिष्ट व्यक्तियों और वहाँ के समाज की आँखों से देखने का प्रयास करते हैं। यह आलोचना का एक कारण बन सकता है, पर खेद यह है कि हम इसके दूसरे पक्ष को भूल जाते हैं। इसका दूसरा पक्ष यह है कि जब हम अपनी दृष्टि से अपने किसी महापुरुष को देखते हैं, तो उसके प्रति हमारी ममता और आसक्ति के कारण पक्षपात की सम्भावना बनी रहती है, हम उसे निष्पक्ष दृष्टि से नहीं देख पाते। उदाहरणार्थ, जब एक माँ अपने बालक को सुन्दर कहती है, तो यह कोई आवश्यक नहीं कि माँ की दृष्टि बिलकुल सही हो। माँ की दृष्टि अपने पुत्र के प्रति ममता और स्नेह के कारण निष्पक्ष नहीं हो पाती और वह अपने बालक की सुन्दरता को बढ़ाकर देखती है। उसे अपने बेटे को यथार्थ दृष्टि से देखने का अवसर प्राप्त नहीं होता। पर जब उस बालक की सराहना दूसरे व्यक्ति भी करने लगते हैं, जिन लोगों की दृष्टि इस विषय में तटस्थ है, जब वे भी उस बालक

में सौन्दर्य की अनुभूति करते है, तब ऐसा लगता है कि यह बात प्रामाणिक होगी ही और वह बालक यथार्थ ही सुन्दर होगा। ठीक इसी प्रकार, यदि स्वामी विवेकानन्द की महिमा को हमने पश्चिम की दृष्टि से देखकर अधिक जाना या माना, तो इसे मात्र मानसिक हीनता की ग्रन्थि का परिचायक नहीं समझना चाहिए, बल्कि यह समझना चाहिए कि जिन लोगों की दृष्टि आलोचनापरक रही है तथा जिनसे हम यह आशा नहीं कर सकते कि वे तटस्थ भाव से हमारे गुणों को देख सकेंगे, वे भी जब स्वामी विवेकानन्द की महत्ता के कायल हो रहे हैं, तब अवश्य उसमें प्रामाणिकता होगी।

आप जानते हैं कि शिकागो में भरी जिस धर्म-महासभा के माध्यम से स्वामी विवेकानन्दजी महाराज विश्व की दृष्टि में आये, उसके मूल में कैसा मनोभाव कार्य कर रहा था। उनकी जीवनी लिपिबद्ध करनेवाले ग्रन्थों में इस मनोभाव का संकेत प्राप्त होता है। यह सही है कि धर्ममहासभा के आयोजकों द्वारा विश्व के समस्त धर्मों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया था, पर इसका अर्थ यह नहीं था कि आमंत्रणदाताओं के मन में केवल विश्व-भ्रातृत्व की भावना कार्य कर रही हो, बल्कि उनके अन्तर्मन में कहीं न कहीं यह बात भी थी कि सर्वधर्मसम्मेलन के माध्यम से जहाँ एकता की चर्चा की जाय, वहीं लोगों के मन में ईसाई धर्म की श्रेष्ठता को बिठा दिया जाय, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि हमारा यह ईसाई

धर्म अन्य समस्त धर्मों की तुलना में कितना श्रेष्ठ और उदार है। अब, जिस आयोजन के पीछे ऐसा मनोभाव विद्यमान रहा हो, जहाँ की जनता ईसाई धर्म में दीक्षित रही हो और जिसका हिन्दू धर्म मे कोई परिचय न रहा हो, और यदि परिचय भी प्राप्त हुआ हो, तो सर्वथा विकृत रूप से, जिन लोगों ने हिन्दू धर्म को सर्वदा आलोचना की दृष्टि से देखा हो, वे भी यदि उस धर्ममहासभा में स्वामीजी द्वारा प्रदत्त वक्तृता को सुनकर उनके प्रशंसक बन गये हों और उनके प्रति श्रद्धा निवेदित की हो, तो उनकी दृष्टि से स्वामीजी को देखने में कोई अनौचित्य नहीं है। गोस्वामीजी 'रामचरितमानस' में कहते हैं--

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान।। १/१४ क

--चतुर पुरुष उसी कविता और कीर्ति का आदर करते हैं, जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर को भूलकर सराहना करने लगें। वस्तुतः श्रेष्ठ कविता और कीर्ति की कसौटी यह है कि शत्रु भी अपना वैरभाव भूल जायँ और उनकी प्रशंसा करने लगें। इस दृष्टि से स्वामी विवेकानन्दजी का जो दिव्य रूप उस धर्ममहासभा के माध्यम से प्रकट हुआ, जिसकी भूरि भूरि सराहना वहाँ के लोगों ने की, उसके माध्यम से यदि हमारे देश ने भी उनके गौरव की एक झाँकी पायी, तो यह अस्वाभाविक नहीं है बल्कि हम तो यह कहेंगे कि पश्चिम के आलोचना-परक दृष्टिवालों ने स्वामीजी का जो मूल्यांकन किया,

उसे स्वीकार कर हमने कोई पक्षपात का नहीं अपितु एक प्रकार से सही दृष्टि का ही परिचय दिया।

अब प्रश्न यह है कि स्वामी विवेकानन्दजी महाराज को उस धर्ममहासभा में जो सफलता प्राप्त हुई, उसके पीछे कारण क्या है? यह बड़ी प्रसिद्ध बात है कि उनके भाषण का प्रभाव तो बाद में पड़ा, पर भाषण के प्रारम्भ में श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जिन शब्दों का प्रयोग किया, उन्हें सुनते ही सारा विशाल जनसमुदाय तालियों से गड़गड़ा उठा।* यह अपने आप में एक आश्चर्य है। भाषण सुनने के पश्चात् प्रभावित होना या उसकी प्रशंसा करना आश्चर्यजनक नहीं है, पर भाषण के श्रीगणेश में ही, मात्र सम्बोधन के शब्दों से उन्होंने जिस प्रकार लोगों के अन्तःकरण को उद्वेलित कर दिया, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है। जब हम इसकी पृष्ठिभूमि में निहित कारण पर विचार करते हैं, तब इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वह केवल उनकी वक्तृत्व-शैली का परिणाम नहीं हो सकता था, क्योंकि भाषण का प्रभाव तो अन्त में हुआ करता है। अन्तरंग में पैठने पर इसका एक ही कारण समझ में आता है कि धर्ममहासभा के मंच पर वे जब विश्व के सकल धर्मों के ऐक्य पर बोल रहे थे, सनातन

*स्वामीजी ने श्रोताओं को 'Sisters and Brothers of America' (अमेरिका की बहनो और भाइयों) कहकर सम्बोधित किया था।

धर्म का—हिन्दू धर्म का—स्वरूप प्रस्तुत कर कर रहे थे, तब उनका प्रस्तुतीकरण, उनकी अभिव्यक्ति का ढंग केवल बुद्धि अथवा शब्द के माध्यम से नहीं था, बल्कि उसमें एक विलक्षणता थी। वह विलक्षणता क्या थी ?

विश्व के धर्मों में एकत्व लाने का प्रयास एक पुराना स्वप्न है। और यह प्रयास कभी तो सही तौर-तरीकों से किया गया और कभी इसके लिए गलत रास्ते अपनाये गये। कभी कभी कुछ लोगों ने सोचा कि यदि सारे विश्व में एक ही धर्म का प्रचार और प्रसार हो जाय, सब लोग एक ही विश्वास में दीक्षित हो जायँ, तो शायद इससे विश्व की एकता ठीक ठीक सम्पादित हो सकती है। ऐसा सोच उन लोगों के अन्तःकरण में धर्मान्धता की भावना आ गयी और उन्होंने हिंसा तथा आक्रमण का सहारा लिया। यह रास्ता तो गलत था, सर्वथा अनुचित था, पर उन्होंने अपने को ऐसा समझा लिया कि लोगों के कल्याण के लिए ही हम इस प्रकार का अभियान चला रहे हैं। इससे धर्म का एक ऐसा पक्ष सामनें आया, जिसनें लोगों के अन्तःकरण में धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करनें के स्थान पर धर्म का वह रूप प्रस्तुत किया, जो धर्म को सर्वथा विकृत और दूषित बना देता है।

पर इससे एकता लाने का प्रयास रुकता नहीं, क्योंकि उसकी आवश्यकता का अनुभव समाज के जीवन में बारम्बार हुआ करता है। जब व्यक्ति और समाज को उन कठिनाइयों का अनुभव होता है, जो अनेकता और

संघर्ष के कारण उत्पन्न होती हैं, तब वह व्यग्र होकर सोचता है कि क्या इस विविधता में, इस भेद में एकता का सूत्र ढूँढ़ा जा सकता है ? और इस प्रकार एकता की चेष्टाएँ, चाहे वह एकता धर्मगत हो या विचारगत, विश्व में अनवरत चलती रहती हैं और आज भी चल रही हैं

इस सन्दर्भ में एक बात जो विशेष रूप से विचारणीय है, वह यह है कि एकता लाने की सही प्रक्रिया फिर क्या है ? क्या एकता बुद्धि के माध्यम से अथवा हिंसा के द्वारा बलपूर्वक लादने से लायी जा सकती है ? ऐसी लादी जानेवाली एकता तो क्षणिक होगी। जो एकता बुद्धि अथवा भाषण के द्वारा स्वीकार की गयी है, वह टिकाऊ नहीं होगी। ऐसी स्थिति में स्वामीजी के सम्बोधन मात्र से श्रोताओं में भावनाओं का जो उद्वेलन हुआ, वह क्या सिद्ध करता है ? बस, यही वह विलक्षणता है, जिसका संकेत हमने पूर्व में किया है। यह विलक्षणता हमें परमहंस देव का स्मरण करा देती है।

लोगों को यह तो दिखायी दे रहा था कि उस मंच पर से स्वामी विवेकानन्द बोल रहे हैं, पर जो उनकी जीवनी और दर्शन से परिचित हैं, वे जानते हैं कि स्वामीजी तो वस्तुतः एक यंत्र के रूप में परमहंस देव के संकल्प को ही साकार कर रहे थे, क्योंकि परमहंस देव की अनुभूति ही उनकी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त हो रही थी। हम स्वामी विवेकानन्दजी की जीवनी में पढ़ते हैं कि

उनके अन्तर्मन में अन्तर्मुखता की ऐसी प्रबल वृत्ति थी कि वे बार बार भीतर की ओर ही अभिमुख होने की चेष्टा करते थे। यह अन्तर्मुखता हमारे देश की एक महान् परम्परा रही है और इसकी बारम्बार प्रशंसा की गयी है। यहाँ पर ऋषियों और मुनियों ने इस अन्तर्मुखता को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। अन्तर्मुखता का तात्पर्य है भीतर देखना। व्यक्ति केवल बाहर की ओर देखने का आदी हो गया है। बाहर की दृष्टि केवल वासना और भोग की दृष्टि है, वह अधूरी दृष्टि है। अन्तर्मुखता हमसे कहती है कि विश्व केवल बाहर की ओर ही नहीं है। वह भीतर भी है और इस अन्तर्जगत् में जो आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा है, उसमें अवगाहन करके धन्यता प्राप्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। हमारे विचारकों ने यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं--

आनँद सिन्धु मध्य तव बासा,
बिनु जाने कस मरसि पियासा। १३६/२

--जीव आनन्द-समुद्र में निवास करता हुआ भी प्यासा मर रहा है, क्योंकि वह अपने स्वरूप को, अपने अन्तर्जीवन की शक्ति को नहीं पहचान पा रहा है। कबीरदास कहते हैं--

धोबिया जल बिच मरत पियासा।
जल में ठाढ़ पियत नहिं मूरख अच्छा जल है खासा॥

इस परम्परा के कारण ही उस अन्तर्सत्य को उद्घाटित

करने की प्रेरणा महापुरुषों के मन में बार बार आती रही है । स्वामी विवेकानन्दजी के अन्तःकरण में भी इस प्रकार की प्रेरणा बारम्बार आती, पर परमहंस देव ने उन्हें उस स्थिति का साक्षात्कार कराते हुए भी, दर्शन कराते हुए भी उस दिशा में बढ़ने से रोक दिया ।* और उस रोक देने में एक महान् अर्थ निहित था ।

जब कोई व्यक्ति अन्तर्मुख हो मुक्ति की खोज में संलग्न होता है, तो वह तो स्वयं आनन्द के केन्द्र को पाकर धन्य हो जाता है, पर उसकी यह महत्ता साधारण व्यक्ति के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाती । यह

* नरेन्द्र ने जब श्रीरामकृष्ण देव के समक्ष योगी शुकदेव की भांति निरन्तर दिन-पर-दिन समाधि के आनन्द में डूबे रहने की इच्छा प्रकट की, तो परमहंस देव ने तिरस्कार करते हुए उनसे कहा था, "छिः, छिः, कहाँ मैं सोचता था कि तू एक महान् वटवृक्ष के समान होगा, जिसकी छाँह-तले लाखों थके-मांदे लोग विश्राम ग्रहण करेंगे, और कहाँ मैं देखता हूँ तू अपनी मुक्ति के लिए कातर हो रहा है !"

इसी प्रकार, परमहंस देव की कृपा से काशीपुर के उद्यान-मदद में नरेन्द्र को निर्विकल्प समाधि का अनुभव होने पर जब वे कृतज्ञता-ज्ञापन हेतु परमहंस देव के पास उनके कमरे में गये, तो परमहंस देव ने उनसे कहा था, "अब माँ ने तुम्हें सब कुछ दिखा दिया है । पर उन्होंने जो कुछ दिखाया, वह सब तुमसे छिपाकर रखा जायगा । रत्न के समान वह पेटी में बन्द रहेगा और उसकी चाबी मेरे पास रहेगी । जब तुम पृथ्वी पर माँ का काम कर चुकोगे, तो पेटी खोल दी जायगी और जो कुछ तुमने अभी जाना है, वह तुम्हें पुनः अनुभव में आने लगेगा ।"

एक ऐसी समस्या है, जो बहुत पुरातन काल से इस देश में विद्यमान रही है। एक ओर तो यहाँ पर बहुत बड़े बड़े व्यक्ति जन्म लेते रहे हैं, पर दूसरी ओर जनसाधारण की स्थिति और मनोभावना का स्तर वैसा ही बना रहा है। अतः भले ही एक व्यक्ति की अन्तर्मुखता, उसकी मुक्ति, उसकी महत्ता लोगों के मन में उसके प्रति श्रद्धा की सृष्टि कर दे और लोगों को उसके चरणों में नमन करने को बाध्य कर दे, पर कहना होगा कि सच्चे अर्थों में सार्वजनीन रूप से उसका कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इसीलिए परमहंस देव चाहते थे कि स्वामी विवेकानन्द के द्वारा समूचे विश्व को एक नयी प्रेरणा प्राप्त हो और केवल कुछ व्यक्ति ही नहीं अपितु सारा समाज उनके सन्देश को हृदयंगम कर जीवन की परिपूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त कर सके। इसी दृष्टि से उन्होंने विवेकानन्दजी को अन्तर्मुखता की ओर बढ़ने से रोक दिया था।

'रामचरितमानस' में भी हमें इसी सिद्धान्त का संकेत प्राप्त होता है। वहाँ बड़ी सांकेतिक कथा आती है कि तारकासुर के अत्याचार से संसार संत्रस्त हो रहा था, पर उसे जब भी मारने का प्रयास किया जाता, वह मरता नहीं था। इसके पीछे एक रहस्य था। जब तारकासुर तपस्या कर रहा था, तब उसे वरदान देने ब्रह्मा आये। उसने वरदान माँगा कि मेरी मृत्यु कभी न हो। ब्रह्मा ने कहा कि यह तो सम्भव नहीं कि मृत्युलोक में कोई जन्म ले और उसकी मृत्यु न हो। तारकासुर बोला, यदि ऐसा

है, तव फिर यही वरदान दे दीजिए कि शंकर के पुत्र के द्वारा ही मेरी मृत्यु हो। तारकासुर जानता था कि भगवान् शंकर आत्मलीन हैं, समाधि में निमग्न हैं, अपने आनन्द में डूबे हुए हैं, इसलिए न तो वे उस आनन्द से वाहर निकल सृष्टि की समस्याओं की ओर ध्यान देंगे और न हमारी मृत्यु होगी। वह जानता था कि भगवान् शंकर विदेह की जिस महान् स्थिति में पहुँचे हुए हैं, वहाँ से उतरकर वे देह के जीवन को कभी स्वीकार नहीं करेंगे, अतः उनका विवाह सम्भव नहीं, और जब उनका विवाह ही नहीं होगा, तब उनके पुत्र भला कैसे होगा? और यदि उनके पुत्र न हो, तो मेरी मृत्यु भी भला कैसे होगी? तारकासुर ने इतना सब सोचकर वरदान माँगा था। इसीलिए वह दूसरों के मारने पर भी मरता नहीं था। तब क्या किया गया? देवताओं ने उपाय रचा कि किसी प्रकार शंकर को समाधि की स्थिति से वाहर की ओर ले आया जाय। वे कामदेव की सहायता लेते हैं। वह जाकर शंकरजी के अन्तःकरण में क्षोभ उत्पन्न करता है। शंकरजी को रोष हो आता है और वे काम को भस्म कर देते हैं। तब अन्ततोगत्वा भगवान् श्रीराम की सहायता ले ब्रह्मा आदि देवताओं द्वारा उन्हें अन्तर्मुखता से वाहर लाकर लोक-कल्याण की दिशा में प्रवृत्त किया जाता है। इस कथा का भी तत्त्व यही है कि यदि किसी एक व्यक्ति की अन्तर्मुखता के कारण सारा समाज सन्त्रस्त होता रहे, तो उस एक व्यक्ति की ऊँचाई से क्या लाभ है? जैसे कोई

व्यक्ति एक ऊँचे आसन पर बैठा हुआ हो और अचानक कोई नीचे गड्ढे में गिर पड़े, ऐसी स्थिति में यदि वह व्यक्ति अपनी ऊँचाई से उतरकर उस नीचे गिरे हुए व्यक्ति को गड्ढे में से उबारने के लिए आगे नहीं बढ़ता, तो उसकी ऊँचाई हमारे लिए प्रेरणाप्रद नहीं हो सकती, वरदान नहीं बन सकती। वह भले ही अपने वस्त्रों को स्वच्छ रख ले, पर उससे उस गिरे हुए व्यक्ति को भला क्या प्राप्त होगा ?

इसीलिए परमहंस देव स्वामी विवेकानन्द को उस अन्तर्मुखता से रोकते हैं, जो उन्हें निर्विकल्प समाधि की ओर ले जाने की चेष्टा करती है। वे स्वामीजी के मन को विश्व-कल्याण की दिशा में मोड़ने का प्रयास करते हैं। जो विश्व अभाव से संत्रस्त है, अधूरा है, उसके अभाव को दूर करने के लिए, उसे पूर्ण बनाने के लिए वे स्वामीजी को प्रेरित करते हैं। वे अध्यात्म को भी स्वार्थ के घेरे से निकालकर सार्वजनीन बना देना चाहते हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहंस साक्षात् भगवान् के अवतार ही थे। और अवतार का दर्शन भी यही होता है। अवतार उस इन्द्रियातीत सत्य को जनसाधारण के लिए सुलभ कर दिया करता है। निर्गुण और निराकार में पहुँच भला कितनों की हो सकती है ? अवतार का तत्त्व ही यह है कि वह निर्गुण को सगुण और निराकार को साकार बना ईश्वर को सबके लिए सुलभ कर देता है। परमहंस देव की जीवनी इसी तत्त्व का निदर्शन है। उनका प्रारम्भिक

परिचय हमें मन्दिर के एक पुजारी के रूप में प्राप्त होता है। लगता है कि वे एक जड़मूर्ति के समक्ष नमन कर रहे हैं, पूजन कर रहे हैं। हमें लगता है कि वह मात्र एक जड़पूजा है। पर परमहंस देव हमारे समक्ष इस मूर्तिपूजा के माध्यम से कौनसा तत्त्व उद्घाटित करना चाहते हैं? यह कि मूर्तिपूजा हेय नहीं है, उसमें एक गूढ़ रहस्य भरा है। भले ही वह साधारण दृष्टि से साधनाक्रम में प्रथम सोपान ही प्रतीत होती है, पर अन्तरंग में पैठकर देखें, तो वही सर्वोत्कृष्ट स्थिति भी है। वह आदि है और अन्त भी। जब हम निर्गुण-निराकार को सगुण-साकार के रूप में रखने का प्रयास करते हैं, तो लोग शंका कर सकते हैं कि यह क्या, यह तो ईश्वर को मूर्ति के रूप में परिणत करके सीमित बनाने की चेष्टा की जा रही है? पर यदि हम गहराई में उतरकर देखें, तो हमें अनुभव होगा कि इस मूर्तिपूजा में, निर्गुण को सगुण बना देने में जितनी पूर्णता है, उतनी मात्र निर्गुण में नहीं है।

इसे एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। यदि आप सबसे कहा जाय कि आप अपने अपने मन में एक सुन्दर मूर्ति या व्यक्ति की कल्पना कीजिए, तो आप सभी उसकी कल्पना कर ले सकते हैं और उस सौन्दर्य का अपने मन में आनन्द भी ले सकते हैं। किन्तु यदि आपके सामने एक पत्थर रख दिया जाय और आपको छेनी-हथौड़ी देकर आपसे कहा जाय कि आपके मन में जो मूर्ति है, उसे इस पत्थर में प्रकट कर दीजिए, जिससे

कि केवल आप ही उसके सौन्दर्य का आनन्द न लें बल्कि दूसरे भी ले सकें, तो यह आपमें से बहुतों के द्वारा सम्भव न हो पाएगा। हम शिल्पकार के गुणों का गायन इसलिए करते हैं, उसे इसलिए महत्त्व देते हैं कि वह अपने मन में उठी हुई आकृति को छेनी-हथौड़ी के माध्यम से रूप दे देता है। फलस्वरूप, जो मूर्ति, जो सौन्दर्य केवल एक व्यक्ति के मन में था, उसे अब सभी लोग अपनी खुली आँखों से देख सकते हैं। इस प्रकार एक के अन्तर्मन में उभरा हुआ जो सौन्दर्य है, वह कोटि कोटि व्यक्तियों के नेत्रों की तृप्ति का साधन बन जाता है। ठीक इसी प्रकार, ईश्वर को केवल निर्गुण-निराकार मानना अन्तर्मुखता की दृष्टि है, मात्र अपने आनन्द की दृष्टि है, और 'नेति नेति' के रूप में ब्रह्म की उस विलक्षणता की अनुभूति केवल वही कर सकता है, जो अन्तर्मुखता से सम्पन्न है। पर धन्य तो वस्तुतः वह है, जो निर्गण को सगुण और निराकार को साकार बना सकता है और इस प्रकार उस ब्रह्म को एक के स्थान पर सबके के लिए सुलभ बना देता है। अवतार-वाद का मूलतत्त्व यही है। यदि अवतार न हो, तो ईश्वर सबके लिए सुलभ नहीं हो सकेगा। उस ब्रह्म के साथ तादात्म्य का अनुभव केवल वे ही कर सकेंगे, जो नाम और रूप से ऊपर उठ सकेंगे। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भावना को मूर्ति के रूप में प्रकट करना अथवा निर्गुण को सगुण के रूप में परिणत करना जीवन के अधूरेपन का नहीं बल्कि पूर्णता का लक्षण है।

इसे यों भी देख सकते हैं। जब एक विद्यार्थी लिखना प्रारम्भ करता है, तो उसे अक्षर लिखाये जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि अक्षर से विद्या का प्रारम्भ होता है। अक्षर के बाद शब्द आते हैं, फिर वाक्य बनता है और इन वाक्यों के सहारे हम उस सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं, जो अ-क्षर है। यह अ-क्षर ही आत्मा है, ब्रह्म है। इस प्रकार विद्या का जो प्रारम्भ है, वही उसकी चरम परिणति भी है। हम साधना का श्रीगणेश अक्षर से करते हैं और उसका समापन भी अक्षर से ही होता है। यह अक्षर ही मूर्ति है, आकार है, फिर वह निराकार भी है। हम आकार के माध्यम से निराकार की ओर जाते हैं। परमहंस देव पुजारी के रूप में मूर्ति के माध्यम से निर्गुण को सगुण रूप में अभिव्यक्त कर हम सबको इसी परम सत्य का साक्षात्कार कराते हैं। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो वे स्वामी विवेकानन्द को अन्तर्मुख होने से रोकते हैं; वे उन्हें शिल्पकार बनाना चाहते हैं, जिसकी प्रतिभा का लाभ सभी को मिल सके।

तो, मैं कह रहा था कि जब धर्ममहासभा के मंच से स्वामी विवेकानन्दजी ने सर्वधर्मसमन्वय की बात कही, तो वह लोगों के अन्तःकरण को छू गयी, उसने लोगों के मन पर अमिट प्रभाव डाला, क्योंकि उसके पीछे परमहंस देव की तथा स्वामीजी की स्वयं की अनुभूति का बल था। जो सत्य केवल बुद्धि या तर्क के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, वह मात्र क्षणभर के लिए

ही लोगों को प्रभावित कर पाता है, वह उनके जीवन को वदलने में समर्थ नहीं हो पाता। एक वार किसी विद्वान् ने कबीरदासजी से कहा, "आपने तो शास्त्रों और वेदों का अध्ययन नहीं किया है, आपको उन ग्रन्थों का कोई ज्ञान भी नहीं है। पर क्या बात है कि हम वड़े बड़े ग्रन्थों को प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हुए भी जव अपनी वात कहते हैं, तो उसे लोग उस रूप में स्वीकार नहीं कर पाते, जिस रूप में आपकी वात को स्वीकार कर लेते हैं?" इस पर कबीरदासजी अपनी अक्खड़ भाषा में उसे उत्तर देते हुए बोले, "तुममें और हममें वस एक अन्तर है। 'तू कहता कागज की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी!'—तुम लिखा हुआ कहते हो और मैं देखा हुआ कहता हूँ।"

तो, सर्वधर्मसमन्वय की वात लेखनी अथवा बुद्धि-तर्क के माध्यम से प्रतिपादित करना वहुत कठिन नहीं है। वह तो वहुत से लोग कर सकते हैं। पर आपमें से जिन्होंने परमहंस देव की जीवनी पढ़ी होगी, मुझे विश्वास है कि उन लोगों ने इस तथ्य पर विशेष रूप से ध्यान दिया होगा कि परमहंस देव ने सर्वधर्म की एकरसता को तर्क और बुद्धि के माध्यम से नहीं अपितु प्रयोगात्मक रूप से, प्रत्यक्ष रूप से देखा था। उन्होंने विविध साधना-पद्धतियों का आश्रय ले उनका जो चरम प्राप्तव्य था, उसका साक्षात्कार किया था। इसका तात्पर्य यह है कि उनके जीवन में सर्वधर्मसमन्वय का जो तत्त्व था, वह बुद्धि या

शिक्षा के द्वारा आरोपित नहीं था, वह तो वस्तुतः उनकी अनुभूति से निकला हुआ सत्य था। इसीलिए जब स्वामी विवेकानन्दजी उनसे दीक्षा ग्रहण करते हैं और अपने आपको उनके एक शिष्य, एक यंत्र के रूप में पाते हैं, तो वे परमहंस देव की अनुभूतियों को भी अपने अन्तःकरण में साकार होते हुए पाते हैं। और वह परमहंस देव की अनुभूतियाँ ही थीं, जो धर्ममहासभा के मंच पर विवेकानन्द की वाणी से निर्गत होती हैं। तभी तो विवेकानन्दजी के मात्र सम्बोधन नें जनमानस को इतना उद्वेलित कर दिया। उनके माध्यम से परमहंस देव के भाव-राज्य का सर्वधर्मसमभावरूप दिव्य अनुभव ही प्रकट हो रहा था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि परमहंस देव के अन्तःकरण में, भगवान् के इस अवतार के अन्तःकरण में लोक-कल्याण का जो एक दिव्य संकल्प था, वह विवेकानन्दजी के माध्यम से रूपायित होकर व्यापक बना। उन्होंने विवेकानन्द को अपनी इस अमूर्त भावना का का चतुर शिल्पी बनाया और सर्वधर्मसमभाव का तत्त्व उनके माध्यम से प्रकट कर सनातन धर्म की विशिष्टता अपने आप सिद्ध कर दी। यह एक अनोखी बात हो गयी। हम कह चुके हैं कि धर्ममहासभा के आयोजन के पीछे एक विशेष धर्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की भावना थी, पर बात उल्टी हो गयी। ईसाई धर्म के बदले सनातन हिन्दू धर्म ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हो गया।

इसका अर्थ यह है कि दूसरों को पराजित कर जो

विशेषता अपने में सिद्ध की जाती है, वह स्वामी विवेकानन्द जी के जीवन का सत्य नहीं है। वे तो वस्तुतः धर्म के मूल तत्त्वों के माध्यम से समत्व का प्रचार करते हैं, किसी को पछाड़कर नहीं। और, धर्ममहासभा के विशाल श्रोतृसमुदाय ने देखा कि जिस धर्म के प्रवक्ता बनकर स्वामी विवेकानन्द आये हुए हैं, उसकी दृष्टि कितनी व्यापक है और उसने किस प्रकार समत्व के तत्त्व को सच्चे अर्थों में आत्मसात् किया है। इस प्रकार इस बार भगवान् का अवतरण श्रीरामकृष्ण देव के रूप में विश्व को सर्वधर्मसमभाव की शिक्षा देने के लिए होता है और स्वामी विवेकानन्दजी उनके यंत्र बनकर आते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि हमारे यहाँ कितने अवतार माने गये हैं? श्रीमद्भागवत में एक स्थान पर दस तो दूसरे पर चौबीस अवतारों की गणना की गयी है, पर साथ ही उसमें यह भी कहा गया है कि 'अवतारा असंख्येयाः'-- 'अवतारों की संख्या की गणना नहीं की जा सकती'। 'रामचरितमानस' में भी अवतार के मूल दर्शन पर विचार करते हुए कहा गया है--

हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इदमित्थं कहि जाइ न सोई ।। १/१२०/२

--हरि का अवतार किस कारण से होता है, वह कारण 'बस यही है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके अवतार के अनेकों कारण हो सकते हैं और ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्हें कोई जान ही नहीं सकता। फिर भी यदि व्यक्ति

बुद्धि के द्वारा अवतार के तत्त्व को समझने की चेष्टा करे, तो यह कहा जा सकता है कि समय समय पर समाज में जो असन्तुलन उत्पन्न होता है, उसे मात्र धर्म ही दूर करने में समर्थ नहीं होता। उसके लिए ऐसे पुरुष की आवश्यकता होती है, जो समय और समाज को देखते हुए धर्म की समुचित व्याख्या और व्यवस्था केवल शब्दों के द्वारा नहीं अपितु जीवन की क्रिया द्वारा कर सके। ऐसे विशिष्ट शक्तिसम्पन्न पुरुष को हम 'अवतार' की संज्ञा दे सकते हैं। 'रामचरितमानस' में हमें इसका एक संकेत प्राप्त होता है। गुरु वसिष्ठ जब भगवान् राम से चित्र-कूट में वार्तालाप करते हैं, तो कहा गया है--

समय समाज धरम अविरोधा।
बोले तब रघुबंस पुरोधा।। २/२९५/३

--'तब रघुकुल के पुरोहित वसिष्ठजी समय, समाज और धर्म के अनुकूल वचन बोले।' इस प्रकार वहाँ पर गोस्वामीजी 'धर्म' के साथ 'समय' और 'समाज' इन दो शब्दों को भी जोड़ देते हैं। इसका अर्थ यह है कि धर्म के जो शाश्वत तत्त्व हैं, मात्र वे ही अपने आप में कारगर नहीं होते, उनका आकलन हमें समय और समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए करना पड़ता है। और जो पुरुष अपने जीवन के माध्यम से समय और समाज के अनुकूल धर्म की व्यवस्था देता है, वह अवतार के रूप में गणनीय है।

परमहंस देव सही अर्थों में भगवान् के अवतार थे।

उन्होंने स्वामी विवेकानन्दजी के माध्यम से समय और समाज को देखते हुए धर्म की व्यवस्था दी थी। आपने ग्रन्थों में पढ़ा होगा कि उनके अवतरण का काल कैसा था तथा तब समाज की दशा कैसी थी। उस काल में समाज के लिए जिस धर्म की, जिस सत्य की आवश्यकता थी, उसे प्रकट करने के लिए परमहंस देव का अवतार हुआ और उन्होंने उसके प्रचार-प्रसार के लिए अपनी दिव्य शक्ति, अपना दिव्य भाव स्वामी विवेकानन्द में स्थापित किया। स्वामी विवेकानन्द परमहंस देव के संकल्पों को साकार करने में वही भूमिका निभाते हैं, जिसका निर्वाह 'रामचरितमानस' में श्रीलक्ष्मणजी भगवान् श्रीराम के प्रति करते हैं। श्रीराम बड़े शान्त स्वभाव के हैं, पर लक्ष्मण के स्वभाव में तेजस्विता और उग्रता दिखायी देती है। इसका अभिप्राय यह है कि सदैव सौम्यता से काम नहीं चला करता, कभी कभी उसके स्थान पर तेजस्विता और उग्रता की आवश्यकता होती है। लक्ष्मणजी कभी-कभी श्रीराम को उत्तेजित करते देखे जाते हैं, पर इस प्रकार वे श्रीराम के ही संकल्प को शीघ्र पूर्ण करने में सहायक होते हैं। बस यही भूमिका विवेकानन्दजी परमहंस देव के जीवन में सम्पन्न करते हैं। वे समय और समाज के अनुकूल उनके धर्म सम्बन्धी विचारों को अपने तेजस्वी व्यक्तित्व के माध्यम से, अपने रजस् के द्वारा समाज में बिखेर देते हैं। इन विचारों को आप उनके ग्रन्थों में पढ़ सकते हैं और विविध विद्वानों के माध्यम

से सुन सकते हैं। रामकृष्ण मिशन के माध्यम से जिस प्रकार उनका संकल्प साकार हो रहा है और जिस प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वय का घनीभूत रूप इस मिशन के महापुरुषों के जीवन में दिखायी दे रहा है, वह यही प्रकट करता है कि यह रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा वर्षा-ऋतु का जल न होकर गंगा-यमुना के जल के समान है। जब वर्षा होती है, तब चारों ओर सड़कों पर भी जल दिखायी देने लगता है, पर जैसे ही वर्षा समाप्त होती है और मेघ चले जाते हैं, वर्षा का जल भी बह जाता है। इसी प्रकार कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो समाज में वर्षाकाल के मेघ की तरह छा जाते हैं। लगता है कि चारों ओर उनकी जयध्वनि हो रही है। पर जैसे वर्षा के मेघों के चले जाने के बाद जल समाप्त हो जाता है, वैसे ही उन महापुरुषों का नाम भी केवल इतिहास में रह जाता है, उनकी विचारधारा समाज में जीवित नहीं रह पाती। किन्तु जो अवतारी महापुरुष होते हैं, उनकी भावधारा गंगा और यमुना के जल की भाँति होती है। गंगा और यमुना की धाराओं की विशेषता यह है कि वे मूल से सम्बद्ध हैं, इसलिए न जाने उनका जल कितने वर्षों से निरन्तर प्रवाहित हो रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा। रामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की सबसे बड़ी महिमा यह है कि परमहंस देव ने जो विचार, जो भाव प्रतिष्ठापित किये, वे गंगा-यमुना के जल की भाँति विवे-

कानन्दजी के माध्यम से प्रवाहित हुए, और इन युगल महापुरुषों का यह अमोघ भावरस आज भी लोगों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रेरणा प्रदान कर रहा है तथा भविष्य में भी वह निरन्तर वर्धमान हो समाज को चैतन्य प्रदान करता रहेगा। इन शब्दों के साथ मैं स्वामी विवेकानन्दजी महाराज के प्रति और परमहंस देवजी के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ अपनी वाणी को विराम देता हूँ।

●

विवेकानन्द खड़ा क्या ?

हीरालाल

(लेखक बलिया के टाउन पालीटेक्निक में नागरिक अभियंत्रण विभाग के अध्यक्ष हैं। कन्याकुमारी के विवेकानन्द स्मारक में स्वामी विवेकानन्द की भव्य प्रतिमा को देख उनके मानस-सागर में जो भाव-ऊर्मियाँ उमड़ीं, प्रस्तुत कविता उसी की अभिव्यक्ति है। --स०)

यह दलित, क्षुब्ध,
पीड़ित मानव,
दबी आत्मा का
विद्रोह खड़ा क्या ?
सुप्त चेतना का
दावानल
बड़वानल
सदियों के झंझा-घर्षण का
प्रतिघोष खड़ा क्या ?
यह मौन तपस्वी
आग उगल,
भौतिकता के भूखण्ड
प्रकम्पित कर जर्जर,
दासत्व, प्रताड़न
दुःशासन का विकट शत्रु
वह अग्निनेत्र।
वह मोहनिशा,
अज्ञानतिमिर,

निद्रातुषार का सूर्य खड़ा क्या ?
वेदों का वेदत्व,
त्याग की ज्वलित शिखा,
'उत्तिष्ठत जाग्रत'
अग्निमंत्र वह रूप खड़ा क्या ?
निर्भयता की वह अडिग टेक,
उपनिषदों का वह स्वरविशेष
"मा भैः मा भैः" मन्त्र
करता प्रचार
वह रुद्र खड़ा क्या ?
ऋषियों मुनियों की—
परम्परा की अमर ज्योति,
भारतीय सभ्यता संस्कृति
की उत्कृष्ट बेल,
वह रामकृष्ण की कीर्ति खड़ा क्या ?
सागरत्रय का मिलनबिन्दु,
माता कन्या की सुखद गोद,
उस अमर शिला पर,
वहाँ विवेकानन्द खड़ा क्या ?

सान्त्वना

स्वामी रामकृष्णानन्द

(गतांक से आगे)

(प्रस्तुत लेख श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा प्रकाशित पुस्तिका CONSOLATIONS का अनुवाद है। इसमें श्रीरामकृष्ण देव के उन अन्यतम संन्यासी-शिष्य स्वामी रामकृष्णानन्दजी के प्रेरक पत्रांशों का संग्रह है, जिनके सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "शशि मठ का मुख्य आधारस्तम्भ था। उसके बिना मठ में जीवन असम्भव होता। वह मठ की माता था।" —स०)

दुःख और सुख हरएक के अपरिहार्य साथी हैं। जब एक आता है, तो दूसरा चला जाता है। किन्तु स्थायी दोनों ही नहीं रह सकते। यह जानते हुए हमें उनके प्रभाव से विचलित नहीं होना चाहिए। ईश्वर पर पूर्णतः निर्भर रहकर अपना कर्तव्य करते रहो। सदैव ईश्वर की इच्छा के आधीन रहो और प्रत्येक वस्तु को उत्तम अर्थ में ग्रहण करो। तुम्हें भविष्य के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए। यहाँ इस संसार में जो कुछ भी होता है, हमारे कल्याण के लिए ही होता है, क्योंकि सभी कुछ ईश्वर के द्वारा ही संचालित है। साथ ही, कर्तव्यपरायण होना हमारा कर्तव्य होना चाहिए।

स्वयं के प्रति कर्तव्यपरायण होने का प्रयत्न करो। यदि पत्नी और सन्तान है, तो उनके प्रति भी कर्तव्य-परायण बनो। अपने सम्बन्धियों, मित्रों तथा पड़ोसियों के प्रति भी कर्तव्यपरायण रहो। उदार, ईमानदार, सरल और सत्यवादी बनो। सर्वोपरि, अपने निर्माता ईश्वर के प्रति

भक्ति और प्रेम रखो। जब तक यह तुम्हारा स्वभाव न बन जाय, तब तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत करो, क्योंकि तुम्हें इस सत्य को जान लेना चाहिए कि जब तक मनुष्य शरीर और मन से पवित्र नहीं हो जाता, तब तक योग के पवित्र मन्दिर में प्रवेश करने का उसे अधिकार नहीं है। योग साँस रोकने और प्राणायाम या विभिन्न आसान करने तक ही सीमित नहीं है। योग का अर्थ है—समस्त चित्तवृत्तियों या इच्छाओं से रहित होना। अतः सदैव अपने माता-पिता, पत्नी-बच्चे, सम्बन्धी-मित्र तथा पड़ोसियों के प्रति कर्तव्यपरायण रहकर पवित्र बनने का प्रयत्न करो। पहले एक आदर्श सद्गृहस्थ बनने का प्रयत्न करो, क्योंकि तभी तुम सच्चे योगी हो सकोगे।

तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि मैं हमारे अध्यक्ष (श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज) को यहाँ लाने के लिए पुरी रवाना हो रहा हूँ। उनके समान पवित्र महापुरुष जिसका भी स्पर्श करते हैं, वह केवल पवित्र ही नहीं हो जाता बल्कि पवित्र करने की शक्ति भी प्राप्त कर लेता है। वे यहाँ व्याख्यान देने नहीं आ रहे हैं, अपितु जिन्हें धर्म की आवश्यकता है, उन्हें धर्म प्रदान करने आ रहे हैं। सार्वजनिक व्याख्यानों से विशेष कार्य नहीं होता। उथली चर्चा में क्या रखा है? धर्म की चर्चा तो सभी कर सकते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्ति कहाँ हैं, जो धर्म प्रदान कर सकें? ये ऐसे महापुरुष हैं, जो दुःखी हृदय में आशीर्वाद की वर्षा कर सकते हैं, जो प्रत्यक्ष

धर्म प्रदान कर मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाते हैं। आधुनिक युग की तथाकथित बुद्धिमत्ता के नितान्त खोखलेपन का तुम्हें स्मरण कराना आवश्यक नहीं है। जिन लोगों का मन संसार में बद्ध है, जिनमें सत्य के असीम आकाश में उड़ने की शक्ति नहीं है, जिनका चिन्तन अज्ञेयवाद, संशयवाद या नास्तिकता में समाप्त होता है, जिनके नैतिक सिद्धान्तों का कोई शाश्वत आधार नहीं है, जिनका अज्ञान उन्हें जन्म और मृत्यु के दो छोरों से बाँधकर क्षणभंगुर जीवन में सीमित रखता है, ऐसे व्यक्तियों के ग्रन्थों को पढ़कर मनुष्य सही मायने में बुद्धि-मान नहीं हो सकता।... रामकृष्ण मिशन के उदात्त कार्य के प्रति तुम जो उत्साह प्रदर्शित करते रहे हो, उसे अब हजारगुना बढ़ जाना चाहिए, क्योंकि इस मिशन के मूर्तिमन्त विग्रह परम पवित्र अध्यक्ष महाराज अब दक्षिण भारत में पदार्पण करने ही वाले हैं।

कभी निष्क्रिय न रहो, क्योंकि निष्क्रियता सब प्रकार के बुरे विचारों की जननी है। अपने कर्तव्य-पालन में सतत सावधान रहो। अपने भीतर की समस्त जड़ता को दूर कर दो। आलस्य जघन्यतम पाप है। पूर्णता-प्राप्ति का कोई राजमार्ग नहीं है। भावुकता का कोई लाभ नहीं। तुम्हें कठोर परिश्रम करना चाहिए और भगवान् तुम्हें जिस स्थान में भी रखें, वहाँ सदैव प्रसन्न रहना चाहिए। यदि तुम भगवान् के निमित्त कुछ सांसारिक कष्टों को सहन नहीं कर सकते, तो तुम वास्तव में प्रभु के अधम

प्रेमी हो ! जो काम तुम्हें अभी असन्तुष्टिकर लगते हैं, वे ही बाद में तुम्हारे सहायक सिद्ध होंगे। भगवान् हम सभी से अधिक बुद्धिमान हैं। वे जानते हैं कि तुम्हारे लिए क्या आवश्यक है तथा तुम्हें कहाँ रखना चाहिए। यदि तुम उनके विधान का प्रतिरोध करते हो, तो वास्तव में तुम उनकी असीम कृपा और प्रेम का ही विरोध करते हो। आज्ञाकारिता दवी है और आज्ञा न मानना आसुरी।

हम निरे अज्ञान के कारण ही सब प्रकार की आधार-हीन चिन्ताओं में पड़ जाते हैं। कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं। नेता को एकदम अहंकार-शून्य होना चाहिए। 'मैं नहीं, तुम' यह उसका मूलमंत्र होना चाहिए। इसे स्मरण रखो और कार्य करते जाओ, तुम्हारी विजय निश्चित है। सभी से मीठी बातें करो। सभी कुछ एक साथ तुरन्त कर लेने का प्रयत्न न करो। पृथ्वी और स्वर्ग में ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो उनके मिशन द्वारा समस्त विश्व में इतनी सफलतापूर्वक संचारित प्रबल अध्यात्म-धारा को रोक सके। प्रसन्न होओ कि तुम प्रभु की चुनी हुई सन्तान हो। वेदान्त सोसायटी के सभी सदस्यों को यह बता दो कि केवल वे ही ज्ञानलाभ नहीं करेंगे, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आएगा, वह भी ज्ञानलाभ करेगा।

पूर्णतः आत्मनिर्भर बनो। ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है, जो अपनी सहायता आप करते हैं। साथ ही सभी से सहयोग करो। यदि बाहर से सहायता आये तो

अच्छा, न आये तो भी अच्छा। यह जान लो कि श्री गुरु महाराज ने तुम्हें अपना कार्य करने के लिए चुना है, तथा जो भी तुम्हारे इस कार्य में सहयोग देता है, उसे स्वयं को अत्यन्त भाग्यवान समझना चाहिए, क्योंकि यह हरदम सम्भव नहीं कि मनुष्य को ईश्वर का कार्य करने के लिए चुना जाय।

ऐसा सोच तुम चिन्तित न होओ कि किसी व्यक्ति द्वारा उनके कार्य को किसी प्रकार क्षति पहुँचायी जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति आकाश की ओर थूकता है, तो थूक उसके ही मुँह पर गिरेगी। श्रीरामकृष्ण की परम दयालुता में विश्वास रखो। उनके सर्वपवित्र संघ में कुछ भी गलत नहीं हो सकता। यदि मैं कभी कभी तुमसे अपने श्री गुरु महाराज के लिए कुछ माँगता हूँ, तो वह केवल तुम्हारे कल्याण के लिए है। ईश्वर ने तुम्हें शुद्ध बनाया है और यदि तुम प्रयत्न करो, तो भी अशुद्ध नहीं हो सकते। श्रीरामकृष्ण के कार्य के निमित्त तुम्हारे प्रामाणिक तथा प्राणप्रण परिश्रम के लिए हम सदैव कृतज्ञ हैं। तुम धन्य हो ही। यह निश्चित जानो कि जो भी व्यक्ति सच्चा और अच्छा है, वह संसार का सबसे भाग्यवान व्यक्ति है। और चूँकि तुम उसी प्रकार के एक व्यक्ति हो, अतः तुम पर उनकी कृपा है ही।

जिसे ईश्वर सफल करना चाहते हैं, उसकी प्रगति को कोई रोक नहीं सकता। जब तक मनुष्य कठिनाइयों की पाठशाला में से होकर नहीं गुज़रता, उसे मनुष्य नहीं

कहा जा सकता। अपनी कठिनाइयों से हम बहुत कुछ सीखते हैं। जब तुमने स्वयं को पूर्णतः प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया है, तब शान्ति और आनन्द पूर्ण जीवन का रहस्य जान ही लिया है। जीवन एक सतत संग्राम है। तुम्हें इन्द्रियों के साथ घोर संग्राम करना चाहिए, परिणाम ईश्वर के हाथों में है। युद्ध करना ही तुम्हारा कर्तव्य है। तुम्हारी विजय होगी या पराजय, यह सर्वथा ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है।

सन्तोष ही वह मूलमंत्र है, जो विपरीत परिस्थितियों से सुरक्षित निकल जाने का आश्वासन हमें दे सकता है। ईश्वर कल्याणमय हैं। वे ही सब करते हैं, अतः वे कल्याण से भिन्न कुछ नहीं कर सकते। यही सब धर्मों की शिक्षा है। इसका पालन करो और मानसिक शान्ति स्वयं प्राप्त होगी। हम किसी के मन में बलपूर्वक त्याग नहीं ला सकते। सभी लोग साधु या साध्वी बनने के लिए नियत नहीं किये गये हैं। प्रत्येक के जीवन का एक प्रयोजन है और इसीलिए वह ईश्वर द्वारा यहाँ भेजा गया है। सबके साथ मिल-जुलकर कार्य करो। शान्ति-स्थापन करनेवाले धन्य हैं, क्योंकि उन्हें ही ईश्वर की सन्तान कहा जाएगा।

कठिनाई में तुम्हें हताश नहीं होना चाहिए। पाण्डवों की माता कुन्ती ने भगवान् श्रीकृष्ण से विपत्तियों का ही वर बार बार माँगा, क्योंकि विपत्ति में ही प्रभु का स्मरण अधिक होता है।...युवावस्था में इन्द्रियाँ प्रबल होती

हैं। तुम्हें शक्तिशाली होने का प्रयत्न करना चाहिए, जिससे इन्द्रियाँ तुम्हें पराजित न कर सकें। कामुकता युवकों का प्रमुख शत्रु है। नारीमात्र को माता के रूप में देखो। शारीरिक तथा मानसिक कार्यों में अपने आपको लगाये रखो तथा अपने मन को सदैव भगवान् श्रीकृष्ण में स्थिर रखो। यदि मन को सदा ईश्वर में स्थिर न रखा जा सके, तो उसे किसी अन्य सद्-विषय में लगा रखना बुद्धिमानी है। इस प्रकार प्रशिक्षित मन को भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में स्थिर करना अधिक कठिन न होगा। यह जान लो कि तुम स्वयं ईश्वर हो और परिणामस्वरूप अपनी इन्द्रियों के स्वामी हो। अपनी इन्द्रियों को स्वयं पर हावी क्यों होने दोगे? दुर्बल मनुष्य दुष्ट व्यक्तियों और दुष्प्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है। मानसिक दुर्बलता शारीरिक दुर्बलता की तरह ही बुरी है।

मैं तुम्हें गीता के कुछ अंशों का स्मरण करा दूँ, जो अत्यधिक निराश व्यक्तियों के हृदयों से भी निराशा को दूर कर उन्हें शक्ति और सहारा देते हैं। अर्जुन ने जब भगवान् से यह पूछा कि जो व्यक्ति योग के मार्ग में भ्रष्ट होकर असफल हो जाता है, तो क्या उसके इहलोक और परलोक दोनों नष्ट नहीं हो जाते, तब भगवान् ने उसे उत्तर दिया—'न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति'—'हे सखा! धर्म का थोड़ासा भी आचरण करनेवाले व्यक्ति की कभी दुर्गति नहीं होती। वह

धार्मिक योगियों के कुल में जन्म लेता है तथा पुनः शुद्ध और पवित्र जीवन विताते हुए ईश्वर-प्राप्ति की साधना में लग जाता है।' अतः क्षण भर के लिए भी यदि तुम सद्भाव का अनुभव करते हो या सत्-चिन्तन करते हो, तो निश्चय ही वह तुम्हारे लिए बड़ी उपलब्धि होगी। निराशा को कभी स्थान न दो, क्योंकि स्वयं भगवान् ने मनुष्य को यह आश्वासन दिया है—'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'—'हे अर्जुन! सभी के सम्मुख यह घोषणा कर दो कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।'

हम लोग स्वाभाविक रूप से संसारी मनुष्यों के पल्ले पड़नेवाली विपरीत और अप्रिय परिस्थितियों से अत्यधिक विक्षुब्ध तथा विषण्ण हो श्रीरामकृष्ण देव के पास आते थे, तब वे हमें सान्त्वना देते हुए कहा करते थे, "लुहार की निहाई के समान बनो। लुहार प्रतिदिन उस पर असंख्य बार हथौड़े का प्रहार करता है, किन्तु निहाई सदैव शान्त और अचल रहती है। संसार तुम पर सदा प्रहार कर सकता है, किन्तु उससे विचलित न होओ और निहाई की भाँति अचल रहो। सर्वशक्तिमान ईश्वर की करुणा और दयालुता में विश्वास रखो। अपने विश्वास में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहो, तो फिर संसार की अशान्ति और विपत्तियाँ तुम पर प्रभाव नहीं डाल सकेंगी। तुम्हें घबराहट में डालने के बदले वे स्वयं घबरा जाएँगी। गीता को अपना सदैव का साथी बना लो। सदैव उत्साही बने रहो। अपनी आत्मा को जो सदैव मुक्त और आनन्द-

पूर्ण है, कभी दुःख और निराशा के आधीन न होने दो।

तुम यह शिकायत मत करो कि तुम अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो रहे हो। सभी मनुष्यों के साथ ऐसा होता है। केवल कुछ ही ऐसे महात्मा जो पहले से ही पूर्ण हैं, यह कह सकते हैं कि वे मनसा, वाचा, कर्मणा पूर्णतः पवित्र हैं। मनुष्य से भूल होना स्वाभाविक है। हमें केवल यही देखना है कि हम जगत् के स्वामी से प्रेम करना न भूलें। अतः साहस रखो। यद्यपि तुम यदा-कदा गिर पड़ते हो, तथापि उठने का प्रयत्न करो। प्रत्येक बच्चा चलना सीखने के पूर्व लाख वार गिरता है। मैं तुम्हें यह विश्वास दिला सकता हूँ कि प्रभु उनकी सहायता करते हैं, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं।

यह निश्चित जानो कि कोई मनुष्य कितना भी बुरा क्यों न हो और भले ही सारे संसार ने उसे त्याग दिया हो, पर ईश्वर का प्रेम उसके प्रति भी उतना ही तीव्र होता है, जितना कि किसी सर्वाधिक पवित्र व्यक्ति के प्रति। एक बच्चा बड़ा होकर भले ही हत्यारा हो जाए, पर माँ का प्रेम उसके प्रति अक्षुण्ण ही बना रहता है। समस्त माताओं को एक साथ मिला देने पर भी ईश्वर उनसे कहीं अधिक दयालु और प्रेमी है। उसकी प्रेमपूर्ण कृपा में कभी विश्वास मत खोओ। वह जघन्यतम पापियों पर भी सदैव दृष्टि रखता है : इसे जानकर प्रसन्न रहो। (क्रमशः)

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में

'एक भक्त"

(गतांक से आगे)

(स्वामो अखण्डानन्द श्री रामकृष्ण के सबसे छोटे संन्यासी शिष्यों में से थे एवं स्वामी विवेकानन्द के परम स्नेहभाजन गुरु-भाई थे। उनके इन संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' स्वामी अखण्डानन्द के शिष्य हैं और रामकृष्ण संघ के एक संन्यासी हैं। प्रस्तुत लेख 'प्रबुद्ध भारत' अँगरेजी मासिक के अप्रैल १९७४ अंक से गृहीत हुआ है। --सं०)

८ मार्च, १९३५

श्रीरामकृष्ण देव का जन्मोत्सव सम्पन्न हो चुका था। भक्त ने सप्ताहान्त स्वामी अखण्डानन्द के साथ बिताने के लिए सारगाछी जाने की सोची। अतः हाथ में कुछ भेंट ले वह रात को ८ बजे रेलगाड़ी से सारगाछी पहुँचा। उसने देखा कि बाबा* उसकी प्रतीक्षा में हैं। उन्होंने बड़े स्नेह से पूछा, "तुम मेरे लिए क्या ले आये?" भक्त ने थैली से तुरन्त फल एवं मिठाई निकालकर बाबा को दी। वे बड़े प्रसन्न हुए। तब भक्त ने आश्रम के अनाथ बालकों को मिठाई और गेंद वितरित किया। बाबा बोले, "देखो, जो चादर तुमने दी थी, वह मैंने रंग ली है और उसे पहन रखा हूँ, क्योंकि तुम आज आने-वाले थे।"

भक्त बाबा के चरणों के सन्निकट बैठ गया। बाबा

---

* स्वामी अखण्डानन्द आश्रम में 'बाबा' के नाम से परिचित थे।

कहने लगे--

ऐसा मत सोचो कि मैं भी उनके (अर्थात् स्वामी विवेकानन्द और अन्य गुरुभाइयों के) समान निर्देशों से भरे लम्बे लम्बे पत्र लिखूँगा। मैं ऐसा नहीं कर सकता। तुम देख ही रहे हो मुझे कार्यों में कितना व्यस्त रहना पड़ता है। फिर मेरी उम्र की ओर देखो और तब अपनी माँगें रखो।

'गुरु' बनना मेरा काम नहीं। पर देखो, जब सच्चे भक्त आते हैं और प्रभु को पाने की इच्छा करते हैं, तो उन लोगों को जिस सहायता की आवश्यकता होती है, उससे मैं उन्हें वंचित नहीं कर सकता। मैं उन्हें ठाकुर के पास ले जाता हूँ और कहता हूँ, "प्रभो! तुम्हारे भक्त आये हुए हैं। उन्हें स्वीकार करो।" मैं उन लोगों को ठाकुर के चरणों में समर्पित कर देता हूँ। जो भी प्रयोजनीय है, वे करेंगे।

उनसे प्रेम करना सीखो। उन्हें प्रेमी की तीव्रता से व्यग्रतापूर्वक पुकारो। तुम्हारा भला ौर कौन है? देखो, वे ही एकमात्र अस्तित्ववान् हैं, वे ही सब कुछ बने हैं। यदि उन्हें देखना चाहते हो, तो बस यही प्रार्थना करो, "हे प्रभो! मुझ पर कृपा करो, मुझे दर्शन दो। तुमने घोषणा की है कि जो भी 'यहाँ' आएगा, तुम उस पर कृपा करोगे, उसे दर्शन दोगे। अब तो तुम वचनबद्ध हो।"

वे निश्चय ही तुम्हारे पास आएँगे। केवल एक बात की आवश्यकता है--तुम्हारी व्याकुलता, तुम्हारी आन्त-

रिकता। उन्होंने और किसी की बात नहीं कही, वे और कुछ नहीं चाहते। तुम्हें हृदय से उन्हें पुकारना चाहिए।

प्रार्थना करो, "प्रभो! मुझे यह व्याकुलता दो, मुझे तुम अपने लिए पागल बना दो।" लोग कहें कि अमुक व्यक्ति भगवान् के लिए पागल हो गया है। लोग तो कई बातों के लिए पागल हो जा सकते हैं। तो तुम ईश्वर के लिए पागल क्यों न बनो? एक प्रकार से इस माया की दुनिया में हर कोई पागल है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और यह संसार असत्य।

९ मार्च, १९३५

सान्ध्य आरती और प्रार्थना के बाद बाबा चुपचाप अकेले अपनी आराम-कुर्सी में बैठे हुए थे। वे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे थे—

ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि॥

तदनन्तर अपने ही आप से कहने लगे—"ब्रह्म-निरूपण? वह दँतुले की हँसी के समान है, जो न हँसते हुए भी हरदम हँसता हुआ प्रतीत होता है। ब्रह्म तो सदैव निरूपित है। वह तुम्हारे निरूपण की अपेक्षा नहीं करता, वह निरपेक्ष है। वह सूर्य की तरह प्रकाशमान है। तब फिर दिखायी क्यों नहीं देता? इसलिए कि

तुम्हारी आँखों पर पट्टी बँधी है, तुम्हारे सामने माया के बादल छाये हुए हैं। मन गन्दा है, उसे धो डालो, साफ कर लो। यही साधना है। तुम जैसे surrounding (वातावरण) में रहोगे, मन की धारणा, विश्वास भी तदनुरूप निर्मित होगा। इसीलिए साधु-संग आवश्यक होता है। साधु सदैव यह अनुभव करते हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, बाकी सब असत्य।"

यह सुनकर भक्त मन ही मन सोच रहा था, 'अच्छा, एक सच्चा साधु कौन है?' बाबा ने मानो भक्त का यह अनकहा प्रश्न भाँप लिया और कहने लगे—"और साधु कौन है? साधु वह है, जो निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, सभी परिस्थितियों में उन पर निर्भर रहता है और अहंकार तथा स्वार्थ से अछूता रहता है। 'नाहं नाहं त्वमेव त्वमेव।' क्या हम कुछ कर रहे हैं? क्या हम कुछ कर सकते हैं? यहाँ (हृदय की ओर संकेत करते हुए) बैठकर वे ही सब कुछ कर रहे हैं और करा ले रहे हैं। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, अपने जीवन में पग पग पर मैंने इसका अनुभव किया है। बिना उसकी मर्जी और कृपा के कोई कुछ भी नहीं कर सकता। 'प्रभो! मैं नहीं, मैं नहीं; तू ही, तू ही।' ये ठाकुर के शब्द हैं। ये चरम सत्य का उद्घाटन करनेवाले महावाक्यों के समान हैं। इनका उच्चारण करके तुम पूर्णता पा सकते हो—'नाहँ, नाहँ; तू ही, तू ही'।"

१० मार्च, १९३५

स्नान के वाद बावा ने नीले रंग की रेशमी कफनी पहनी। यह कफनी कलकत्ते के उनके एक दर्जी-शिष्य ने भेजी थी। यह पहनकर वे बड़े प्रसन्न हुए। फिर अपने लम्बे केशों को उन्होंने उसी नीले रेशमी कपड़े के रूमाल से वाँध लिया और एक मुसलमान फकीर के समान दिखने लगे। बीच बीच में वे बुदबुदाते--"ए मेरे मन! अल्लाह का नाम ले और पैगम्बर को अपना रहनुमा वना। अल्लाह की मदद से तू जिन्दगी की दरिया को पार कर जाएगा।"

वे मुसकराने लगे और मुस्लिम भक्तों तथा श्रीराम-कृष्ण की इसलाम-साधना की गाथाएँ कहने लगे। एक स्थानीय सूफी-कवि के वारे में उन्होंने कहा, "लल्लन फकीर के अनुयायी ने अपने बनाये कुछ रहस्यभरे गीत गाये, जिसमें शरीर को आत्मा का वाहन निरूपित किया। मैंने उससे पूछा, 'ये भाव तुम्हें कहाँ से मिले, ये तो हमारे हैं?' उसने उत्तर में कहा, 'आध्यात्मिक जीवन में हमारे और तुम्हारे की क्या वात?' मैंने उन देह-तत्त्वात्मक गीतों में से कई को लिख लिया था। वे आज भी मेरे पास हैं।

"मुस्लिमों की अपने धार्मिक नियमों के प्रति कितनी निष्ठा होती है! अफगानिस्तान का अमीर भारत के गवर्नर जनरल के साथ राज्य-अतिथि के रूप में प्रदर्शनी देख रहा था। ज्योंही नमाज का समय हुआ कि वह वहीं प्रदर्शनी में ही जमीन पर नमाज पढ़ने बैठ गया। फारसी

कवि हफीज़ ठीकरों पर अपनी कविता की पंक्तियाँ लिखा करता। प्रति सन्ध्या वह अपने किसी प्रिय की कब्र पर जाता और दिया जला आता। एक दिन किसी लड़की ने उससे शाम को मिलने का करार किया। हफीज़ निर्धारित स्थान पर नियत समय में पहुँच गया और प्रतीक्षा करने लगा। अचानक उसे स्मरण हो आया कि उसे तो अपने प्रिय की कब्र में दिया जलाने जाना है। वह सब कुछ छोड़कर कब्र की ओर भागा। नित्यक्रम के प्रति निष्ठा ने उसकी रक्षा की।"

एक व्यक्ति सारगाछी आश्रम में दीक्षा के लिए आया था। वह गाँव का एक भोला-भाला युवक था। दीक्षा की प्रार्थना करने दिन में वह बाबा के पास दो वार आया और अभी सन्ध्या जब वह तीसरी वार आया, तो वावा उसे तनिक डाँटते हुए से बोले, "तुम कैसे साधक हो ? पहले देखो, सुनो और फिर गुरु का चुनाव करो।" फिर मुसकराते हुए कहने लगे, "तुम मुझे सारा दिन अल्लाह का नाम लेते हुए देख रहे हो; तुम ठीक से यह जानते ही नहीं हो कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान। क्या तुम अल्लाह का नाम जपने के लिए तैयार हो ? पहले समझ लो कि हमारे ठाकुर सभी धर्मों में विश्वास करते थे। फिर दीक्षा की बात सोचो।" बाद में वे उससे अकेले में मिले और मुसकराते हुए पूछा, "क्या तुम इस सब में विश्वास करते हो ?" दूसरे दिन उस युवक को दीक्षा दे दी गयी।

दूसरे दिन सुबह बाबा बड़े कमरे में आरामकुर्सी में बैठे हुए थे और भक्त भी पास ही बैठा हुआ था। कमरे के दूसरे छोर पर आश्रम अनाथालय के बच्चे अपना सबक याद कर रहे थे। बाबा भक्ति से कहने लगे, "भगवान् के लिए काम और कांचन का त्याग करना चाहिए, फिर धीरे धीरे सूक्ष्म वासनाओं का—नाम और यश की स्पृहा का। जैसे त्याग की कोई सीमा नहीं है, वैसे ही आनन्द की भी कोई सीमा नहीं है। त्याग से ही आनन्द मिलता है। जितना त्याग होगा, उतना ही आनन्द।

"मनुष्य एक आदर्श चाहता है—त्याग का आदर्श। इसीलिए देश और काल के अनुसार त्याग का आदर्श दिखाने के लिए भगवान् आते हैं। त्याग ही सच्चा मनुष्यत्व है, वह देवत्व से भी श्रेष्ठ है। देवताओं को भी मनुष्य के त्याग पर निर्भर करना पड़ता है। उदाहरण के लिए दधीचि को ही देखो, जिन्होंने अपने शरीर की आहुति दे दी।

"ईश्वर का अवतार एक समूचा और पूर्ण आदर्श है। तुम उसकी जितनी धारणा कर सकोगे, उतना तुम्हारा है। अन्तहीन फैला हुआ सागर अथाह है, पर एक छोटा सा पात्र उसके अत्यल्प जल को ही धारण कर सकता है। यदि वह पात्र समुद्र में खो जाय? उसे खो जाने दो। त्याग ही सार है। कुछ अच्छा प्राप्त करने के लिए हमें उसका विपरीत--बुरा-- छोड़ना होगा, और यदि तुम अच्छे का त्याग करोगे, तो बुरा तुम्हें मिलेगा ही।

"यदि विषय-भोगों की तुममें इच्छा हो, तो आध्या-

त्मिक उपलब्धि सम्भव नहीं। यदि तुम सचमुच आध्यात्मिक जीवन के लिए सचेष्ट हो, तब तो कामनाओं को बिदा देनी ही होगी। विवेक करो। जीवन जैसा है, उसमें कहीं सच्चा सुख नहीं है। सुख के बाद दुःख अवश्य आता है। उठने और गिरने का यह क्रम जन्म-जन्मान्तर से चला हुआ है। अब और नहीं। अब निर्मल आनन्द की खोज में लग जाओ। उस सुख को खोजो, जिसमें कोई मिलावट न हो। लोग मिलावट के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि वे सही और शुद्ध आहार का स्वाद ही भूल गये हैं! फिर उसे पचाने की शक्ति भी खो बैठे हैं। आजकल यदि किसी को मिलावट वाला आहार सस्ते में मिले, तो वह शुद्ध आहार चाहेगा ही नहीं।"

सान्ध्य आरती समाप्त हुई। लम्बे मौन के बाद बाबा अपने ही आप में गाने लगे——

स्नेहभरे तेरे वक्षःस्थल में
छिप जाता हूँ मैं, ओ माँ!
और देख तेरे मुखड़े को
रह रह कह उठता 'माँ-माँ'!

फिर कहने लगे, "जरा सोच देखो, एक छोटा बच्चा अपनी माँ की गोद में पड़ा है। वह माँ की ओर देखता है, आनन्द से भरा है। कभी वह माँ से ऐसा एकाकार हो जाना चाहता है कि कोई उसे न देख सके। 'बस, माँ है और मैं हूँ, और कुछ नहीं।' वह माँ की ओर ताकता है ताकता रहता है और जब उसमें आनन्द उमड़ पड़ता

है तव विह्वल हो चिल्ला उठता है--'माँ, माँ, माँ, माँ'। वच्चा तो माँ के ही साथ है, उसकी गोद में ही पड़ा है। उसे पुकारने की कोई आवश्यकता नहीं, पर यह तो अकारण आनन्दोल्लास से निकली प्रयोजनहीन पुकार है।

"फिर इस गीत में दूसरी भी गूढ़ अर्थभरी पंक्तियाँ हैं, पर हम लोग दक्षिणेश्वर में केवल वे ही दो पंक्तियाँ घण्टों, गाते रहते थे। ठाकुर यह देख मन्द-मधुर मुसकाते रहते और हम लोगों के साथ मिलकर गाने लगते--

स्नेहभरे तेरे वक्ष:स्थल में
छिप जाता हूँ मैं, ओ माँ !
और देख तेरे मुखड़े को
रह रह कह उठता 'माँ माँ' !"

दूसरे दिन सुवह अपने कमरे में बैठे हुए, मोटी रेशमी चादर से अपने को ढके हुए वावा हाथ जोड़कर एक संस्कृत स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। भक्त वाहर में खड़ा यह पाठ सुन रहा था। वह प्रमदादास मित्र द्वारा रचित श्रीरामकृष्ण का स्तोत्र था, जो 'विशुद्ध-विज्ञान-मगाधसौख्यं' से शुरू होता है।

प्रत्येक श्लोक के अन्त में वे झुकते और ठाकुर को प्रणाम करने के उद्देश्य से सिर को अपने जुड़े हुए हाथों से लगाते। कण्ठस्वर ऊँचा था और उच्चारण स्पष्ट। दीर्घ और ह्रस्व स्वरवर्ण अपनी उचित मात्रा में उच्चरित हो रहे थे। भक्त ने इतना संगीतमय और भावपूर्ण संस्कृत पाठ कभी नहीं सुना था।

●

युद्धाय उत्तिष्ठ

(गीताध्याय २, श्लोक ३२-३७)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

पार्थ (हे पृथापुत्र अर्जुन) यदृच्छया (अपने आप) उपपन्नम् (प्राप्त) अपावृतम् (खुले हुए) स्वर्गद्वारम् (स्वर्ग के द्वाररूप) ईदृशम् (इस प्रकार के) युद्धम् (युद्ध को) सुखिनः (भाग्यवान) क्षत्रियाः (क्षत्रिय लोग) च (ही) लभन्ते (पाते हैं) ।

"हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त खुले स्वर्गद्वार की तरह इस प्रकार के धर्मयुद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही प्राप्त करते हैं।"

पिछली चर्चाओं में हमने 'स्वधर्म' के स्वरूप पर विचार किया और यह दिखाने का प्रयास किया कि महाभारत का यद्ध पाण्डवों के लिए 'धर्म्य' था। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को इन्हीं दो दृष्टियों से युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं कि वह अर्जुन के लिए 'स्वधर्म' है, और साथ ही 'धर्म्य' भी। स्वधर्म कहकर वे अर्जुन को कर्तव्य-कर्म करने की विधेयात्मक प्रेरणा देते हैं तथा 'धर्म्य' का विशेषण दे वे उसे युद्ध से होनेवाले पाप के निवारण का आश्वासन देते हैं। जो क्रिया धर्म्य है, उससे किसी पाप की उत्पत्ति नहीं हो सकती। स्वधर्म-पालन एक ऐसा उपाय है, जो उसमें आने वाले आनुषंगिक दोषों को पचा जाता है। वैसे तो जीवन में ऐसी कोई क्रिया नहीं है, जिसमें कुछ न कुछ

दोष न हो। पर यदि वह क्रिया स्वधर्म-पालन के अन्तर्गत आती है, तो उसके दोषों का परिहार स्वधर्म के सम्यक् पालन द्वारा अपने आप हो जाता है। भगवान् कृष्ण गीता में ही अन्यत्र (१८/४८) कहते हैं——

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

——'हे कौन्तेय! दोषयुक्त होने पर भी स्वधर्मोचित विहित कर्म को नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश समस्त कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं।'

अर्जुन क्षत्रिय है, अतः उसका स्वाभाविक कर्म, सहज कर्म, स्वभावनियत कर्म, स्वधर्म, युद्ध है। फिर, यह युद्ध उस पर थोपा गया है, अतः वह धर्म्य है। ऐसा धर्मयुद्ध जो बिना बुलाये प्राप्त होता है, खुले हुए स्वर्गद्वार के समान है। बड़े भाग्यवान और सुखी क्षत्रियों को ही इस प्रकार का धर्मयुद्ध प्राप्त हुआ करता है। भगवान् कृष्ण इस दुर्लभता की ओर अर्जुन का ध्यान आकर्षित कर उसे युद्ध में नियुक्त होने की प्रेरणा देते हैं। महाभारत के पर्व में भी (३२/६५) हमें इसी आशय का एक श्लोक प्राप्त होता है——

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

——'दो प्रकार के पुरुष इस लोक में सूर्यमण्डल को भेदकर ऊपर जाते हैं——एक योगयुक्त, सर्वत्यागी संन्यासी

और दूसरा, युद्ध में सामने लड़ते हुए मारा जानेवाला वीर।' यहाँ पर सूर्यमण्डल को भेदकर ऊपर उठना क्रम-मुक्ति प्रदर्शित करता है, अर्थात् ऐसे धर्मयुद्ध में प्राण का त्याग करनेवाला योद्धा स्वर्ग में जाता है और वहीं से से पुनः ऊपर उठकर आवागमन के चक्कर से छुटकारा पा लेता है, वह फिर से संसार में लौटकर नहीं आता। इसी दृष्टि से भगवान् इस धर्मयुद्ध को 'खुला स्वर्गद्वार' कहकर पुकारते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि सैनिकों को उत्साहित करने के लिए ही यह स्तुति वाक्य कहा गया है। यदि वे युद्ध से विरत हो जायँ, तो देश में नाना प्रकार की विपत्तियाँ आ सकती हैं। अतः वीरता के प्रसार और आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करने के लिए ऐसी बातें कही गयी हैं। पर जब हम गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं, तो पता चलता है कि यह स्वर्ग प्राप्ति का प्रलोभन मात्र नहीं है, अपितु एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। जो युद्ध में पीठ न दिखाकर वीरगति को प्राप्त होता है, वह वस्तुतः स्वर्ग का अधिकारी होता है। कैसे ?

अच्छा, मृत्यु क्या है ? स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के अलग हो जाने को ही हम मृत्यु कहते हैं। सूक्ष्म शरीर ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों, ५ प्राणों, मन, बुद्धि और अहंकार——इन अठारह तत्त्वों से बना है। सूक्ष्म शरीर के ये सब तत्त्व अन्य लोकों के अंशरूप से मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट होते हैं और इन अंशों का उन लोकों

में स्थित अपने अपने धन के साथ बराबर सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिए मानव जीवन पर ग्रहों का प्रभाव स्वीकार किया गया है। जब स्थूल शरीर का वियोग होता है, तब सूक्ष्म शरीर के ये तत्त्व प्रकृति के नियमानुसार अपने अपने धन की ओर चलते हैं। सूक्ष्म शरीर के इन तत्त्वों में जिसकी प्रधानता होती है, वही अपने अन्य सहचारियों को भी अपने धन की ओर खींच ले जाता है। यही लोकान्तर गति का वैज्ञानिक रहस्य है। अब, मनुष्यों में सामान्य रूप से मन की प्रधानता होती है और मन चन्द्रमा का अंश है। अतः श्रुतियों में कहा गया है कि मृत्यु होने पर मनुष्य प्रायः चन्द्रमण्डल में जाता है। यदि मन-तत्त्व की प्रधानता रहेगी, तो मृत्यु के उपरान्त वह सूक्ष्म शरीर के अन्य सब तत्त्वों को चन्द्रमा की ओर ही खींचकर ले जायगा। इसी को पितृयान कहा गया है। पर यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से बुद्धि की शक्ति को बढ़ा ले और मन-तत्त्व को दबाकर बुद्धि-तत्त्व को प्रबल कर ले, तो मरणोपरान्त उसकी गति चन्द्रमा की ओर न होकर सूर्य की ओर हो जायगी, क्योंकि बुद्धि सूर्य का अंश है। बुद्धि-तत्त्व के प्रबल होने पर वह सूक्ष्म शरीर के अन्य सब तत्त्वों को अपने धन सूर्य की ओर खींचकर ले जाता है। यही देवयान है। योग, ज्ञान और वैराग्यादि इस बुद्धि-तत्त्व को प्रबल करने के साधन हैं।

सांख्य शास्त्र में बुद्धि के आठ रूप बताये गये हैं।

इनमें चार सात्त्विक हैं और चार तामसिक। सात्त्विक रूप हैं--धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। चार तामसिक रूप इन्हीं के विरोधी हैं--अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। अवैराग्य के पुनः दो रूप हैं--राग और द्वेष। इस प्रकार बुद्धि के पाँच तामसी रूप हो गये--अधर्म, अज्ञान, राग, द्वेष और अनैश्वर्य। पतंजलि अपने योग-सूत्रों में बुद्धि के इन पाँच तामसी रूपों को 'पंचक्लेश' कहकर पुकारते हैं--'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः पचक्लेशाः'--अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। अधर्म-रूप तामसी बुद्धि को अभिनिवेश-रूप क्लेश से सूचित किया। 'अभिनिवेश' शब्द का शास्त्रीय अर्थ है 'मैं सदा बना रहूँ' इस प्रकार की स्वाभाविक वृत्ति। यह वृत्ति प्राणिमात्र में व्यापक है। अब मृत्यु तो अपरिहार्य है, वह एक अवश्यम्भावी नियम है, एक धर्म है। इसके विपरीत वृत्ति रखना अधर्म का ही द्योतक है। इसीलिए अभिनिवेश को अधर्म का पर्याय माना गया है। अज्ञान-रूप तामसी बुद्धिवृत्ति को अविद्या-रूप क्लेश से सूचित किया। अज्ञान वस्तुतः ज्ञान का अभाव सूचित करता है, फिर वह ज्ञान का विरोधी भी है। अविद्या पद का भी यही ध्वनित अर्थ है। अवैराग्य-रूप तामसी बुद्धिवृत्ति के राग और द्वेष ये दो रूप पहले बताये ही जा चुके हैं और ये ही दोनों क्लेश के अन्तर्गत भी आते हैं। अनैश्वर्य-रूप तामसी बुद्धिवृद्धि अस्मिता-रूप क्लेश से सूचित हुई है। अस्मिता का तात्पर्य

है अहंकार और अहंकार आत्मा के ऐश्वर्य को ढक देता है। आत्मा मुक्त है, अपरिच्छिन्न है, असीम है, यही उसका ऐश्वर्य है। पर अहंकार के कारण स्थूल या सूक्ष्म शरीर आदि को आत्मा मान लिया जाता है और इस प्रकार आत्मा को संकुचित और सीमाबद्ध कर दिया जाता है। यही आत्मा का अनैश्वर्य है। इस प्रकार अस्मिता ऐश्वर्य की विरोधिनी है। इसीलिए उसे अनैश्वर्य का पर्याय माना गया। अब, बुद्धि के ये जो चार सात्त्विक रूप हैं, वे ईश्वर में भी हैं। इन चार रूपों के साथ यश और श्री ये दो और जोड़ दें, तो इन छहों को 'भग' कहा गया है और जिसमें ये छह भग होते हैं, वह 'भगवान्' के नाम से अभिहित होता है। ये छहो गुण ईश्वर में परिपूर्ण मात्रा में होते हैं, इसलिए ईश्वर सबसे बड़ा 'भगवान्' है। ईश्वर में उक्त पंचक्लेशों का लेशमात्र भी नहीं है, अर्थात् बुद्धि के तामसी रूप उसके पास फटक तक नहीं पाते। बुद्धि की शक्ति को प्रबल करने का तात्पर्य है उसके सात्त्विक रूपों को बढ़ाना और तामसिक रूपों को दबाना। संन्यास और योग मार्गों में ज्ञान और वैराग्य को विशेष रूप से बढ़ाया जाता है। फलस्वरूप धर्म और ऐश्वर्य में भी वृद्धि होती है। बुद्धि के इन चारों सात्त्विक रूपों में उन्नति होने के कारण मृत्यु के समय बुद्धितत्त्व प्रबल हो जाता है और वह जीव को अपने धन सूर्यमण्डल की ओर खींचकर ले जाता है। जो अपने बुद्धितत्त्व को विशेष रूप से प्रबल बनाने में समर्थ होते हैं, वे सूर्य-

मण्डल के केन्द्र की ओर प्रयाण करते हैं और वहाँ भी न रुककर, उसका भेदन कर, ऊपर के अन्य लोकों में चले जाते हैं। चूँकि वे अपने आप में भगवद्धर्मों का विशेष रूप से समावेश कर लेते हैं, इसलिए क्रमशः सब लोकों का अतिक्रमण करते हुए वे अन्त में भगवान् में लीन हो जाते हैं। यही मुक्ति की अवस्था है।

इसी प्रकार युद्ध में पीठ न दिखानेवाला वीर भी सूर्यमण्डल को भेद लेता है। जो इस प्रकार का वीर योद्धा होता है, उसके अस्मिता और अभिनिवेश ये दो क्लेश दब जाते हैं। जब तक शरीरात्मभाव शिथिल न हों, तब तक युद्ध का उत्साह हो ही नहीं सकता। शरीरात्मभाव के शिथिल होने का मतलब अस्मिता का दबना है। फिर, योद्धा को इस विचार का तो सर्वथा त्याग कर देना पड़ता है कि 'मैं सर्वदा बचा रहूँ'। यदि यह विचार उसमें बना रहे, तो वह युद्ध कर ही कैसे पाएगा? इस प्रकार, युद्ध का उत्साह अस्मिता और अभिनिवेश दोनों को दबा देता है। फलस्वरूप इनके विपरीत गुण---बुद्धि के सात्त्विक रूप---ऐश्वर्य और धर्म उसमें पूर्ण रूप से जागरित हो जाते हैं। इससे बुद्धितत्त्व प्रबल हो जाता है और मृत्यु के पश्चात् वही जीव को अपने धन सूर्यमण्डल की ओर आकृष्ट कर ले जाता है। स्वर्गद्वार के खुले होने का यही तात्पर्य है। सारांश यह है कि उपर्युक्त श्लोक सैनिकों को मात्र प्रलोभन देने के लिए नहीं कहा गया है, बल्कि उसकी सार्थकता है।

हम इस सार्थकता को एक अन्य दृष्टि से भी देख

सकते हैं। प्राणियों की तीन अवस्थाएँ--जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति--सभी जानते हैं। पर इन तीनों के अतिरिक्त उसके एक चौथी अवस्था भी होती है, जिसे तुरीय कहा जाता है। इस चौथी अवस्था में मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ किसी एक विषय में सर्वथा एकाग्र हो जाती हैं। तब उसे अन्य विषयों का भान ही नहीं रहता। यही तुरीयावस्था है। अन्य विषयों का भान न होने के कारण वह जाग्रत् अवस्था नहीं है, क्योंकि जाग्रत् में सभी विषयों का भान रहता है। और चूँकि एक विषय का स्पष्ट भान रहता है, इसलिए न तो वह स्वप्न है, न सुषुप्ति, क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में किसी भी विषय का भान नहीं रहता। एक उदाहरण द्वारा इसे समझाया जा सकता है। जैसे कोई व्यक्ति गाढ़ी नींद में सोया हुआ है। उसे जगाकर हम कहते हैं, 'चलो खाने। वह उत्तर में कह देता है, 'नहीं खाएँगे।' जब वह नींद से जागता है, तो भूख का अनुभव कर घर के लोगों से कहता है, 'तुम लोगों ने भोजन के समय मुझे जगाया क्यों नहीं?' जब घर के लोग कहते हैं, 'तुम्हें जगाया तो था, पर तुम्हीं ने कह दिया कि नहीं खाएंगे,' तो वह बोल उठता है, 'कहाँ? मुझे तो स्मरण नहीं कि मैंने ऐसा कहा था।' अब, जिस अवस्था में उसने कहा 'नहीं खाएँगे', उसे हम चतुर्थ अवस्था कह सकते हैं। वह 'जाग्रत' नहीं है, 'स्वप्न' भी नहीं है, फिर 'सुषुप्ति' भी नहीं है। वह यदि सुषुप्ति अवस्था होती तो उसे यह भान

कैसे होता कि कोई उससे कह रहा है 'चलो खाने' और वह उस प्रश्न का उत्तर भी कैसे देता ? वह तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। वह सत्त्वप्रधान अवस्था है। उपर्युक्त नींद वाले दृष्टान्त में वह अवस्था पल भर के लिए ही टिक पायी। इसी अवस्था के नैरन्तर्य का प्रयास योगी साधकों द्वारा किया जाता है। गीता में अन्यत्र (१४/१८) कहा गया है कि सत्त्वगुण की वृद्धि में प्राणों का उत्क्रमण होने पर ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति होती है – 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।'

तो, जब योद्धा युद्धभूमि में होता है, तो उसके लिए प्रतिपक्षी ही एकमात्र लक्ष्य होता है, उसे अन्य किसी विषय का भान ही नहीं रहता। जैसे, जयद्रथ-वध के प्रसंग में अर्जुन की दृष्टि जयद्रथ के सिर पर ही गड़ी हुई थी, उसे और कुछ दिखायी दे ही नहीं रहा था। मन की ऐसी तुरीयावस्था में यदि दैवात् शत्रु के प्रहार से योद्धा के प्राण उत्क्रमित कर जायँ, तो उपर्युक्त नियम के अनुसार उसकी सद्गति अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार देश के हित की उत्कट भावना में निमग्न रहकर जो अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं, वे तुरीयावस्था में हत होने के कारण उर्ध्वगति के भागी होते हैं, यह कहना युक्तियुक्त ही है। इसी दृष्टि से चाणक्य कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में (१०/३/१५०/५२) भी हमें उक्त अर्थ की व्यंजना करनेवाला श्लोक प्राप्त होता है —

यान् यज्ञसंज्ञैस्तपसा च विप्राः

स्वर्गैषिणः पात्रचयैश्च यान्ति ।
क्षणेन तामप्यतियान्ति शूराः
प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ।।

——‘स्वर्ग की इच्छा करनेवाले विप्र अनेक यज्ञों से, यज्ञापात्रों से और तपों से जिस लोक में जाते हैं, उस लोक के भी आगे के लोक में युद्ध में प्राण अर्पण करनेवाले शूर पुरुष एक क्षण में जा पहुँचते हैं ।’

महाभारत के शान्तिपर्व में (९८/१२) ऐसे युद्ध को योद्धा के लिए ‘संग्रामयज्ञ’ कहा गया है और यह बतलाया गया है कि ऐसा संग्रामयज्ञ वीर योद्धा के लिए ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति का कारण बनता है । वहाँ ९८वें अध्याय में इस संग्रामयज्ञ का विस्तार से वर्णन किया गया है । इस सारे विवेचन का तात्पर्य यह है कि वीर योद्धा के लिए युद्ध को खुला स्वर्गद्वार कहना मात्र स्तुतिवाक्य नहीं है ।

विवेच्य श्लोक में ‘यदृच्छया चोपपन्नं’ युद्ध की विशेषता सूचित करने वाला वाक्यांश है । भगवान् कृष्ण का तात्पर्य यह है कि शूरवीर क्षत्रिय लोग विशेष प्रयत्नपूर्वक ऐसे युद्धों की योजना बनाते हैं, जबकि तुझे ऐसा अवसर अपने आप प्राप्त हो गया है । इससे यह भी ध्वनित होता है कि तुम लोग स्वयं युद्ध के इच्छुक नहीं थे, यह तुम पर थोपा गया है । ऐसे अपने आप प्राप्त स्वर्ग के खुले द्वाररूप इस युद्ध को तू ठुकरा रहा है, अर्जुन ! यह अनुचित है ।

‘ईदृशम्’ विशेषण युद्ध के साथ लगातार यह सूचित

किया गया कि यह साधारण युद्ध नहीं है। एक राजा पड़ोस के राजा के साथ सीमा को लेकर जो युद्ध करता है, वह तो एक साधारण युद्ध है, पर यह तो भारतव्यापी युद्ध है, जिसमें प्राग्ज्यौतिष, त्रिगर्त और गान्धार देशों के राजा भी सम्मिलित हुए हैं। अतः उत्साह का धारण कर तेरा उत्साह अन्य वीरों के उत्साह को बढ़ाएगा। ऐसा उत्साह अस्मिता और अभिनिवेश का शमन करेगा।

'सुखिनः' शब्द का सामान्य अर्थ 'सुखी' होता है। आगे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग-सुख को लक्ष्य करते हुए सुखी शब्द का प्रयोग उचित माना जा सकता है। ऐसा युद्ध जिन्हें प्राप्त हो गया है, वे आगे चलकर बड़े सुखी होंगे, स्वर्गसुख का आनन्द भोगेंगे। या फिर, अनेक व्याख्या-कारों के अनुसार 'सुखिनः' शब्द का अर्थ 'भाग्यवान' किया गया है।

भगवान् कृष्ण का तात्पर्य यह है कि अर्जुन, ऐसे विलक्षण प्रकार के युद्ध में देश के हर भाग से आये हुए योद्धाओं को उत्साही देखकर कहाँ तुझ जैसे वीर को अत्यन्त उत्साहशील होना चाहिए था, और कहाँ तू उलटा अपना उत्साह खोकर, युद्ध से विरत होना चाहता है! यह दुर्ब-लता, त्याग, उठ!

पर भगवान् देखते हैं कि अर्जुन फिर भी युद्ध के लिए उद्यत नहीं होता। तब वे लौकिक दृष्टि से उसे समझाते हैं कि यदि तू युद्ध न करेगा, तो उसका परिणाम क्या होगा। वे कहते हैं--

अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अथ (और) चेत् (यदि) त्वम् (तू) इमम् (इस) धर्म्यम् (धर्मयुक्त) संग्रामम् (संग्राम को) न (नहीं) करिष्यसि (करेगा) ततः (तो) स्वधर्मम् (स्वधर्म को) च (और) कीर्तिं (कीर्ति को) हित्वा (खोकर) पापम् (पाप को) अवाप्स्यसि (प्राप्त होगा)।

"और यदि तू यह धर्मयुक्त संग्राम नहीं करेगा, तो अपना धर्म और यश दोनों खोकर पाप का भागी बनेगा।"

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणाद् अतिरिच्यते ॥ ३४॥

अपि च (और भी) भूतानि (सब लोग) ते (तेरी) अव्ययाम् (बहुत काल तक रहनेवाली) अकीर्तिम् (अपकीर्ति को) कथयिष्यन्ति (कहते रहेंगे) च (और) [वह] अकीर्तिः (अपकीर्ति) सम्भावितस्य (सम्मानित पुरुष के लिए) मरणात् (मृत्यु से) [भी] अतिरिच्यते (अधिक [बुरी] होती है)।

"यही नहीं, बल्कि सब लोग तेरी अक्षय अपकीर्ति का गान करते रहेंगे, और ऐसा अपयश तो सम्मानित पुरुष के लिए मृत्यु से भी बढ़कर है।"

इन दो श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को चेतावनी देते हैं कि यदि तू यह धर्मयुद्ध नहीं करेगा, तो अपने स्वधर्म का नाश तो करेगा ही, साथ ही अपनी कीर्ति को भी तू गँवा बैठेगा और पाप का भागी बनेगा। आचार्य शंकर तैंतीसवें श्लोक के 'कीर्ति' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'महादेवादिसमागमनिमित्तां,' अर्थात् 'महादेव आदि के साथ युद्ध करने से प्राप्त हुई' कीर्ति को खो बैठेगा। फल यह होगा कि तुझ जैसे गाण्डीव-

धारी की अपकीर्ति का गायन लोग चिरकाल तक करते रहेंगे।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५॥

च (और) येषाम् (जिनका) त्वम् (तू) बहुमतः (बड़ा सम्मानित) भूत्वा (होकर) [भी अब] लाघवम् (तुच्छता को) यास्यसि (प्राप्त होगा) महारथाः [वे] (महारथी लोग) त्वाम् (तुझे) भयात् (भय के कारण) रणात् (रण से) उपरतम् (विरत हुआ) मंस्यन्ते (मानेंगे)।

"वे महारथी लोग, जिनके लिए तू बड़ा माननीय है, सोचेंगे कि तू भय के कारण युद्ध से विरत हो गया है और इस प्रकार उनके पास तू अब बड़ा तुच्छ हो जायगा।"

अर्जुन ! तू भले ही ऐसा मानता हो कि तू युद्ध से घबड़ाकर नहीं भाग रहा है, बल्कि तू पूज्यजनों के प्रति, पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के प्रति, आदर-बुद्धि रखने के कारण उनसे युद्ध नहीं करना चाहता, पर तेरी यह बात कौरवपक्ष के महारथी नहीं मानेंगे। यदि उनकी दृष्टि में तेरी बात सही हो, तो वे पूछेंगे कि अर्जुन, तुम तो युद्ध के प्रारम्भ से ही जानते थे कि ये पूज्यजन तुम्हारे विरुद्ध युद्ध में खड़े हो रहे हैं। यदि इससे लड़ने की तुम्हारी इच्छा नहीं थी, तो तुम युद्ध भूमि में आये ही क्यों ? वे तो यही सोचेंगे कि तू कौरवों की विशाल सेना को देखकर डर गया है और अब बहानेबाजी कर रहा है। तेरी यह कायरता देख तेरे प्रति उनका दृष्टिकोण नितान्त बदल जायगा। वे अब तक तुझे वीर, गाण्डीव-

धारी, महादेव को रण में हरा देनेवाले विजयी योद्धा के रूप में देख रहे हैं। उनके हृदय में तेरे शौर्य के लिए बड़ा आदरभाव है। पर अब वे तुझे तुच्छ दृष्टि से देखने लगेंगे, तुझे कायर समझेंगे। और——

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ ३६॥

च (और) तव (तेरे) अहिताः (वैरी लोग) तव (तेरी) सामर्थ्यम् (सामर्थ्य की) निन्दन्तः (निन्दा करते हुए) बहून् (बहुत से) अवाच्यवादान् (न कहने योग्य वचनों को) वदिष्यन्ति (कहेंगे) नु (फिर) ततः (उससे) दुःखतरम् (अधिक दुःख) किम् (क्या होगा)।

"तेरे वैरी लोग तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए ऐसी बहुत सी बातें कहेंगे, जो न कहनी चाहिए। इससे बढ़कर दुःख की बात क्या होगी?"

तेरे ये बैरी लोग तेरी निन्दा में बढ़ा-बढ़ाकर बातें कहेंगे। जिन बातों की तूने सपने में भी कल्पना न की होगी, तेरे प्रति वे सब कही जाएँगी। यह तो मृत्यु से भी बदतर है। ऐसा जीना भी किस काम का, जहाँ जीवन में केवल अपकीर्ति ही अपकीर्ति हो। तू कहता है कि भिक्षा के द्वारा आजीविका चलाना तू पसन्द करेगा, पर क्या तूने कभी इस पर विचार किया, अर्जुन, कि जब तू भिक्षापात्र लेकर निकलेगा, तो लोग तेरी प्रशंसा नहीं करेंगे, ऐसा नहीं कहेंगे कि अर्जुन कितना अहिंसा-प्रिय है, बड़ों को कितना मान देता है, बल्कि वे तो तेरी खिल्ली उड़ाते हुए कहेंगे कि अर्जुन कायर और नपुंसक

निकला, वह क्षत्रिय की सन्तान नहीं है। वे कहेंगे कि हम जो अर्जुन की वीरता की गाथाएँ सुनते आ रहे थे, सब मिथ्या है। अर्जुन, सोच तो सही, जब तू भिक्षा के लिए जायगा और तेरे पीछे पीछे बच्चों के झुण्ड तुझ पर ताने कसते चलेंगे, तब तुझे कैसा लगेगा?

भगवान् श्रीकृष्ण बड़े अद्‌भुत मनोवैज्ञानिक हैं। वे बातों को ठीक रखना जानते हैं। वे अर्जुन को उत्साहित करते हुए कहते हैं—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

वा (या) [तो] हतः (मरकर) स्वर्गम् (स्वर्ग को) प्राप्स्यसि (प्राप्त होगा) वा (अथवा) जित्वा (जीतकर) महीम् (पृथ्वी को) भोक्ष्यसे (भोगेगा) तस्मात् (अतएव) कौन्तेय (हे अर्जुन) युद्धाय (युद्ध के लिए) कृतनिश्चयः (दृढ़संकल्प हो) उत्तिष्ठ (खड़ा हो)।

"या तो युद्ध में मरकर स्वर्ग को प्राप्त करेगा अथवा जीतकर पृथ्वी का भोग करेगा। अतएव हे अर्जुन, युद्ध करने का दृढ़संकल्प ले उठ खड़ा हो।"

भगवान् आगे समझाते हैं कि अर्जुन, तुझे डरने की कोई आवश्यकता नहीं। हार या जीत की उभय अवस्थाओं में तेरे दोनों हाथों में मोदक है। तू गुरुजनों के प्रति युद्ध करने से पाप लगेगा ऐसा सोचकर युद्ध से कतरा रहा है, पर तू यह क्यों भूलता है कि युद्ध न करने से स्वधर्मनाश तथा अपकीर्तिरूप बड़ा पाप तेरे सिर पर आ चढ़ेगा? तू युद्ध रूप हिंसा के पाप से इतना डरता

क्यों है ? मैं वह रसायन तुझे देता हूँ, जिससे युद्ध से होनेवाला पाप तुझे छू नहीं पाएगा ।

और भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को जो रसायन प्रदान करते हैं, उसकी चर्चा हम अगले प्रवचन में करेंगे ।

श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में श्री सारदा देवी के कुछ संस्मरण

संकलनकर्ता–स्वामी चेतनानन्द

(वार्तालाप के प्रसंग में श्री माँ सारदा बहुधा श्रीरामकृष्ण देव के संस्मरण सुनाया करती थीं। ऐसे ही कतिपय प्रसंगों का संकलन रामकृष्ण संघ के हालीवुड केन्द्र के स्वामी चेतनानन्द द्वारा किया गया था और वह 'वेदान्त केसरी' अँगरेजी मासिक में प्रकाशित हुआ था। इसकी पहली किस्त अनुवादित होकर 'विवेक-ज्योति' के वर्ष १३, अंक २ में प्रकाशित हुई थी। प्रस्तुत लेख दूसरी किस्त है।––सं.)

शिशुवत् श्रीरामकृष्ण

जब ठाकुर दक्षिणेश्वर में थे, तब राखाल (स्वामी ब्रह्मानन्द) और दूसरे भक्त एकदम छोटे थे। एक दिन राखाल ठाकुर के पास आया और कहने लगा कि वह बहुत भूखा है। ठाकुर गंगा के किनारे आये और जोरों से चिल्लाकर बोले, "ओ गौरदासी, यहाँ आओ! मेरा राखाल भूखा है।" उस समय दक्षिणेश्वर में मिठाई आदि की दुकानें नहीं थीं। कुछ समय बाद देखा गया कि एक नाव गंगा में ऊपर की ओर चली आ रही है। वह आकर मन्दिर के समीप लगी। उसमें से बलराम बाबू, गौरदासी और अन्य भक्त उतरे। साथ में वे रसगुल्ले लेते आये थे। ठाकुर यह देख बड़े ही प्रसन्न हुए और राखाल को पुकारते हुए बोले, "यहाँ आ जा। यह रही मिठाई। तुझे बड़ी भूख लगी थी न!" राखाल इस पर रुष्ट हो गया और बोला, "आप मेरी भूख की इतनी विज्ञप्ति क्यों कर

रहे हैं ?" ठाकुर बोले, "इसमे हानि क्या ? तू भूखा है। तुझे कुछ खाने को चाहिए। यह बात अगर मैंने कह दी तो हर्ज क्या हुआ ?" ठाकुर का स्वभाव शिशु के समान था।

ठाकुर की दिव्य लीला

कल समय कितना सुन्दर बीता ! सरला ने ठाकुर के बारे में पढ़ा। उनके उपदेश कितने सुन्दर थे ! तब हम कैसे जान सकते थे कि घटनाएँ इस ढंग से मोड़ लेंगी! कितनी महान् आत्मा का आगमन हुआ था ! उनके उपदेशों से कितने लोग बोध प्राप्त कर रहे हैं ! वे आनन्द के साक्षात् विग्रह थे। दिन के चौबीसों घण्टे भजन-कीर्तन, हास्य-विनोद, चुटकुले-उपदेश चला करते। जहाँ तक मुझे स्मरण है मैंने उन्हें कभी किसी बात के लिए चिन्तित नहीं देखा। बहुधा वे मुझे बड़े सुन्दर सुन्दर शब्दों में समझाया करते। यदि मुझे लिखना आता होता, तो मैंने वह सब लिख लिया होता।

राखाल के माता-पिता

ठाकुर ने राखाल के पिता से कहा, "सेब का एक अच्छा पेड़ अच्छे सेब ही पैदा करता है।" इस प्रकार वे राखाल के पिता को सन्तोष प्रदान करते। जब वे दक्षिणेश्वर आते, तो ठाकुर स्वादिष्ट चीजों से उनका यत्नपूर्वक सत्कार करते। उन्हें भय था कि कहीं राखाल के पिता उसे घर वापस न ले जायँ। राखाल के सौतेली माँ थी। जब वह दक्षिणेश्वर आती, तो ठाकुर राखाल से कहते, "जा, उसे सब घुमाकर दिखा दे। जरा अच्छी

तरह देखभाल करना, जिससे वह सोचे कि उसका बेटा उससे खूब प्यार करता है ।"

नौकरानी वृन्दा

वृन्दा को चलाना कोई सहज काम नहीं था । उसके नाश्ते के लिए एक निश्चित संख्या में पूरियाँ अलग रख दी जातीं । यदि उसमें किसी प्रकार की कटौती होती, तो वह बड़ी बक-झक करती । कहती, "जरा देखो भले-मानुसों के इन बेटों को ! मेरा हिस्सा भी चट कर लिया है । मुझे इतनी सी मिठाई भी नहीं मिलती ।"

ठाकुर को डर लगता कि कहीं उसकी बात इन युवा भक्तों के कानों में न पड़ जाय । एक दिन बड़ी सुबह वे नौबतखाने में मेरे पास आये और कहने लगे, "देखो, मैंने दूसरों को वृन्दा के हिस्से की पूरियाँ दे दी हैं । उसके लिए थोड़ा बना दो, नहीं तो लगेगी बक-झक करने । दुष्टों से दूर ही रहना चाहिए ।"

वृन्दा ज्योंही आयी, मैंने उससे कहा, "देखो वृन्दा, आज तुम्हारे लिए कोई नाश्ता नहीं है । मैं अभी पूरियाँ उतारे देती हूँ ।" वह बोली, "रहने भी दो । तकलीफ मत करो । मुझे सीधा दे देना ।" मैंने उसे आटा, मक्खन, आलू और दूसरी सब्जियाँ दे दीं ।

लाल फूल

एक बार दक्षिणेश्वर में आशा नाम की एक लड़की ने एक झाड़ी से लाल रंग का एक बड़ा सुन्दर फूल तोड़ा । उसकी पत्तियाँ गहरे हरे रंग की थीं । फूल को हाथ में

ले वह रोने लगी और कहती रही, "यह क्या! ऐसे खूबसूरत लाल फूल की पत्तियाँ इतने गहरे रंग की क्यों हों!" उसके आँसू देख ठाकुर ने पूछा, "बात क्या है? तू रो क्यों रही है?" वह कुछ बता नहीं सकी और रोती ही रही। अन्त में ठाकुर ने तरह तरह से उसे समझाकर शान्त किया।

गुणग्राहकता

दक्षिणेश्वर में रहते समय एक दिन मैंने जवा और लाल रंगन फूलों की एक सात लड़ी की माला बनायी और एक कुंडो में पानी ले उसे भिगो रखा। शीघ्र ही कलियाँ पूरी तरह खिल गयीं। मैंने वह माला माँ काली को पहनाने के लिए मन्दिर में भेज दी। माँ के आभूषण उतार लिये गये और प्रतिमा को माला पहनाकर सजा दिया गया।

ठाकुर जब मन्दिर में गये और फूलों से सजी माँ काली के बढ़े हुए सौन्दर्य को देखा, तो वे भावातिरेक में डूब गये। बारम्बार कहने लगे, "जगन्माता के श्याम वर्ण पर ये फूल कितने खिल रहे हैं! माला किसने बनायी?" किसी ने मेरा नाम लिया। वे बोले, "जाओ, उसे बुलाकर मन्दिर में ले आओ।" जब मैं सीढ़ियों के पास पहुँची, मैंने देखा वहाँ बलराम बाबू, सुरेन बाबू और अन्य पुरुष-भक्त खड़े हैं। मैं अत्यन्त सकुचा गयी और अपने को छिपाने की चेष्टा करने लगी। मैं वृन्दा नौकरानी के पीछे हो ली और पीछेवाली सीढ़ियों से

मन्दिर में जाने का उपक्रम करने लगी। ठाकुर ने यह तुरन्त देख लिया। वे बोले, "उधर से मत कोशिश करो। कुछ ही दिन पहले एक मछुआरिन उन सीढ़ियों से चढ़ते चढ़ते फिसल गयी। उसकी हड्डियाँ टूट गयीं और उसे जोर का मानसिक आघात लगा। सामने की इन सीढ़ियों से आओ।" भक्तों ने यह सुना तो मेरे लिए रास्ता छोड़ दिया। मैंने मन्दिर में प्रवेश किया तो देखा कि ठाकुर गा रहे हैं और उनका कण्ठस्वर प्रेम और भक्ति में सराबोर हो काँप रहा है।

पाप-स्वीकृति और पाप-मोचन

किसी व्यक्ति के एक रखैल थी। एक समय वह ठाकुर के पास आ पश्चात्ताप के स्वर में कहने लगी, "उस आदमी ने मुझे बरबाद कर दिया। फिर मेरा धन और जेवर भी छीन लिया।" ठाकुर अन्तर्यामी थे, लोगों के मन में उठनेवाले विचारों को जान लेते थे। फिर भी वे लोगों के मुँह से ही उनकी बातें सुनना पसन्द करते। वे उस स्त्री से बोले, "अच्छा, क्या यह सच है? पर वह वह तो यहाँ पर भक्ति की बड़ी बड़ी बातें बघारता था।" अन्त में उस स्त्री ने उनके सामने अपने समस्त पापों को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार वह उन पापों के बुरे प्रभाव से मुक्त हो गयी।

भगवान् और धन-दौलत

रुपये पैसे में क्या रखा है, बेटे? ठाकुर तो उसका स्पर्श भी नहीं कर पाते थे। पैसे के सामने उनका हाथ

ऐंठने लगता था। उन्होंने अपने भतीजे रामलाल से कहा था, "यह ससार माया है। यदि मैंने इसे अन्यथा जाना होता, तो तुम्हारे कामारपुकुर को सोने से मढ़वा देता। पर मैं जानता हूँ कि यह संसार अनित्य है। एकमात्र ईश्वर ही सत्य है।"

दैवी सहायता

खून के दस्त होना कोई साधारण बीमारी नहीं है। ठाकुर प्रायः उससे भुगतते। वर्षाकाल में उसका प्रकोप बारम्बार होता। एक समय तो वे बहुत गम्भीर रूप से पीड़ित हो गये। मैं उनकी शुश्रूषा करती। उस समय वाराणसी से एक महिला दक्षिणेश्वर आयी हुई थी। उसने एक इलाज सुझाया। मैंने तदनुसार किया और ठाकुर जल्दी ठीक हो गये।

उसके बाद वह महिला दिखलायी नहीं पड़ी। मेरी उससे फिर भेंट नहीं हुई। उसने सचमुच मेरी बहुत सहायता की थी। मैंने काशी में भी उसके सम्बन्ध में पूछताछ की, पर उसका कुछ पता न लगा। हम लोग बहुधा देखते थे कि ठाकुर को जब भी किसी की आवश्यकता महसूस होती, लोग स्वयं होकर दक्षिणेश्वर पहुँच जाते और उसी प्रकार अकस्मात् गायब भी हो जाते।

एक प्रेत-कथा

एक दिन ठाकुर राखाल के साथ बेनी पाल के उद्यानभवन में गये थे। वे बगीचे में टहल रहे थे कि एक प्रेत आकर कहने लगा, "आप यहाँ किसलिए आये

हैं ? हम लोग जल रहे हैं। हम आपकी उपस्थिति सहन नहीं कर पा रहे हैं। इस स्थान से शीघ्र चले जाइए।" वह उनकी दिव्यता और ज्वलन्त पवित्रता को कैसे सह पाता ? ठाकुर उस स्थान से मुसकराते हुए चले गये। किसी से इस सम्वन्ध में कुछ नहीं कहा।

ब्यालू के तुरन्त बाद उन्होंने किसी से गाड़ी बुला लाने को कहा, यद्यपि पहले यही निश्चित था कि वे रात वहीं बिताएँगे। गाड़ी लायी गयी और वे उसी रात दक्षिणेश्वर लौट आये। मैंने फाटक के पास गाड़ी के चक्कों की आवाज सुनी। मैंने कान लगाकर सुना तो पाया कि ठाकुर राखाल से कुछ कह रहे हैं। मैं तो चौंक उठी। सोचने लगी--'पता नहीं, उन्होंने भोजन किया है या नहीं। अगर न किया हो तो इस भरी रात में कहाँ से खाना लाऊँगी ?' मैं हरदम उनके लिए भण्डार में कुछ न कुछ अवश्य रखती, कम से कम सूजी तो रहती ही। कभी कभी वे असमय ही कुछ खाने को माँग बैठते। मैं पूरी तरह निश्चिन्त थी कि वे उस रात नहीं लौटेंगे। इसलिए मेरा भण्डार खाली था। मन्दिर के सारे दरवाजे बन्द थे, उन पर ताला पड़ा था। तब रात के एक बजा होगा। वे ताली बजा-बजाकर ईश्वर का नाम लेने लगे। प्रवेश-द्वार खोला गया। मैं चिन्तित हो सोच रही थी कि यदि वे भूखे हों, तो क्या करना। उन्होंने मेरे उद्देश्य से चिल्लाकर कहा, "मेरे भोजन की चिन्ता न करो। ब्यालू करके आया हूँ।" फिर उन्होंने राखाल को भूत

की घटना कह सुनायी। राखाल तो सिहर उठा और बोला, "बाप रे बाप! अच्छा किया जो आपने उस समय मुझे यह नहीं बताया, नहीं तो भय के मारे मेरे दाँत किटकिटाने लगते। अभी ही मैं डर के मारे काँप रहा हूँ!"

श्रीरामकृष्ण की तसवीर

ठाकुर की पहली तसवीर की बहुत सी प्रतियाँ निकाली गयी थीं। ब्राह्मण रसोइये ने एक प्रति रख ली थी। तसवीर पहले काली की मूर्ति के समान ही बहुत काली थी। इसीलिए वह रसोइये को दे दी गयी थी। जब वह दक्षिणेश्वर छोड़कर कहीं चला गया—याद नहीं कि कहाँ गया—तब वह उस तसवीर को मुझे दे गया। मैंने अन्य देवी-देवताओं के चित्रों के साथ उसे रख लिया और उसकी पूजा करने लगी। तब मैं नौबत-खाने के निचले हिस्से में रहती थी। एक दिन ठाकुर वहाँ आये और उस तसवीर को देख कहने लगे, "अरे! यह सब क्या है?" लक्ष्मी और मैं दोनों सीढ़ी के नीचे पका रही थीं। तब मैंने देखा कि ठाकुर ने हाथ में बेल की पत्तियाँ और कुछ फूल लिये, जो वहाँ पूजा के लिए रखे गये थे, और तसवीर को चढ़ाने लगे। उन्होंने उस तसवीर की पूजा की। यह वही तसवीर है। वह रसोइया फिर कभी लौटकर नहीं आया, इसलिए तसवीर मेरे पास ही रह गयी।*

---

* शिष्य—क्या ठाकुर सचमुच तसवीर में विराजमान हैं?
श्री माँ—निश्चय ही, वे हैं। काया और छाया एक ही है। और उनकी यह तसवीर छाया के अलावा और क्या है?

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

नैराश्य की काली घटा

ब्रह्मचारी चिन्मय चैतन्य

स्वामीजी ने अपने ९ अप्रैल, १८९४ के पत्र में आलासिंगा को सलाह दी थी कि वे मद्रास में एक सभा आयोजित कर यह प्रस्ताव पारित करवाकर अमेरिका के समाचार-पत्रों में भेजें कि स्वामी विवेकानन्द हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि हैं तथा यह सभा उनके सफल प्रतिनिधित्व का हृदय से समर्थन करती है। इससे मजूमदार तथा अन्य पादरियों का यह दुष्प्रचार कि वे हिन्दू धर्म के सही प्रवक्ता नहीं वरन् धूर्त और बदमाश हैं, बन्द हो सकेगा। पर महीने से भी अधिक समय बीत गया और आलासिंगा से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। उधर मजूमदार का विषवमन तेजी पर था। स्वामीजी के लिए वह परीक्षा की कठिन घड़ी थी। उन्हें अपनी आलोचना का भय नहीं था। उन्हें भय इस बात का था कि इस दुष्प्रचार से अमेरिका में उनकी अर्थ संग्रह की योजना खटाई में पड़ जायगी। उन्होंने जूनागढ़ के दीवान श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को २० जून, १८९४ को लिखा, " . . . . पीठ-पीछे निन्दा करनेवालों ने परोक्ष रूप से मुझे कोई लाभ नहीं पहुँचाया है। हमारे हिन्दू भाइयों ने अमेरिकनों को यह बतलाने के लिए भी अपनी उँगली नहीं हिलायी कि मै उनका प्रतिनिधि हूँ और इस दृष्टि से मेरा घोर अपकार हुआ है। काश, हमारी जनता अमेरिकनों के द्वारा मेरे प्रति दिखाये कृपाभाव के प्रति धन्यवाद के कुछ शब्द

प्रेषित कर पाती और यह बताती कि मैं उनका प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। यहाँ तो मजूमदार, बम्बई के नागरकर और एक ईसाई महिला सोरावजी अमेरिकनों से कहते रहे कि मैंने अमेरिका में ही संन्यासियों के वस्त्र धारण किये हैं, और में एकदम धूर्त हूँ। जहाँ तक मेरे स्वागत का प्रश्न है, इसका अमेरीकी जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु जहाँ तक धन द्वारा मेरी सहायता का प्रशन है, इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि उन्होंने मेरी सहायता करने से अपने हाथ खींच लिये। मैं यहाँ एक वर्ष से हूँ, किन्तु किसी भी प्रतिष्ठित भारतीय ने अमेरिकनों को यह बताना तक उचित नहीं समझा कि मै 'धूर्त' नहीं हूँ। फिर वहाँ मिशनरी लोग सदा मेरे विरुद्ध कही गयी बातों की ताक में रहते हैं और भारत के ईसाई-पत्रों द्वारा मेरे विरुद्ध लिखी गयी बातों को खोजने और उनको यहाँ प्रकाशित कराने मे सदा व्यस्त रहते हैं। आपको यह विदित होना चाहिए कि यहाँ के लोग भारत के ईसाई और हिन्दू के बीच के अन्तर के सम्बन्ध में बहुत कम जानते हैं।..."

अमेरिका में स्वामीजी का इस समय की मानसिक स्थिति का आभास उनके शिष्य श्री शरच्चन्द्र के संस्मरण से लगाया जा सकता है। अमेरिका से लौटने के बाद एक बार शरच्चन्द्र ने उनसे पूछा था, "महाराज, क्या कट्टर पादरी वहाँ आपके विरुद्ध नहीं हुए?" स्वामीजी ने कहा, "हुए क्यों नहीं? जब लोग मेरा सम्मान करने लगे,

तो पादरी लोग बड़ी बुरी तरह मेरे पीछे पड़े। मेरे विरुद्ध कितनी ही कुत्सा भरी बातें उन्होंने समाचारपत्रों में छपवायी। कितने लोग मुझसे उनका प्रतिवाद करने को कहते। पर मैंने स्वीकार नहीं किया। मेरा दृढ विश्वास था--चालाकी से संसार में कोई बड़ा कार्य नहीं हो सकता, इसीलिए इन अश्लील कुत्साओं की ओर ध्यान न दे मैं अपना कार्य चुपचाप किये जाता और अनेक बार यह देखता कि जो लोग मुझे गाली-गलौच देते वे बाद में दुखित हो मेरी शरण में आते और खुद ही समाचार पत्रों में खेद प्रकाश कर क्षमायाचना करते। कई बार ऐसा भी हुआ कि मुझे किसी घर में आमन्त्रित देख विरोधी लोग वहाँ जाकर मेरे विरुद्ध मिथ्या प्रचार कर गये और जब मैं वहाँ पहुँचा तो देखा कि घर में कोई नहीं है, दरवाजे पर ताला लगा वे लोग जाने कहाँ चले गये हैं। फिर देखता कि कुछ दिन बाद सही बातें जानने पर वे ही लोग दुख प्रकट कर मेरे शिष्य बनने चले आये हैं। तू जानता है रे भाई! संसार में सभी दुनियादारी है! ठीक ठीक संन्यासी या ज्ञानी क्या इस भुलावे में आ सकता है! संसार चाहे जो बोले, मैं अपना कर्त्तव्य पालन करता जाऊँगा--यही वीर का कार्य है, जानना। नहीं तो--यह क्या कह रहा, वह क्या कह रहा--यह सब लेकर पड़े रहने से क्या संसार में कोई बड़ा कार्य साधित हो सकता है?"

आलोचना के ऐसे अवसरों पर स्वामीजी प्रायः चुप

ही रहते। प्रतिवाद करना उनके स्वभाव में नहीं था। केवल उन्हें इस बात का भय लगता कि कहीं उनके मित्र, जिन्हें वे स्नेह, और आदर की दृष्टि से देखा करते हैं, इस मिथ्यापवाद के शिकार न बन जायँ और इसे सही मान उनसे कहीं मुँह न मोड़ लें। प्राध्यापक राइट उनमें से एक थे। अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए उन्होंने मई १८९४ के एक पत्र में प्राध्यापक राइट को बोस्टन से लिखा, "अब तक आपको पुस्तिका एवं पत्र मिल गये होंगे। अगर आप चाहें, तो मैं शिकागो से भारतीय राजाओ एवं मन्त्रियों के कुछ पत्रों को आपके पास भिजवाऊँ।...अगर आपको यकीन न आये, तो मैं उन सबों को लिखकर पुछवा दूँ कि मैं धोखेवाज नहीं हूँ। पर भाई, हमारे जीवन का आदर्श तो ऐसे विषयों में गोपनता और अप्रतीकार में है।...मेरे कृपालु मित्र, मैं नैतिक रूप से वाध्य हूँ कि आपको पूर्णरूपेण सन्तुष्ट करूँ। लेकिन बाकी दुनिया की मैं परवाह नहीं करता कि वह मेरे बारे में क्या कहती है।..." यही बात उनके २४ मई के पत्र में भी ध्वनित होती है, "मैं राजपूताना के वर्तमान शासकों में से एक, खेतड़ी के महाराजा, का एक पत्र आपके पास भेज रहा हूँ। दूसरा पत्र वर्तमान अफीम कमिश्नर का है, जो भारत के वड़े राज्यों में से एक जूनागढ़ राज्य के भूतपूर्व मन्त्री हैं तथा जिन्हें भारत का ग्लैडस्टोन कहा जाता है। इनसे, मैं आशा करता हूँ, आपको विश्वास हो जायगा कि मैं धोखेबाज नहीं हूँ।...

मेरे प्रिय मित्र, मैं इस बात के लिए आपको हर प्रकार से सन्तुष्ट करने के लिए बाध्य हूँ कि मैं सच्चा संन्यासी हूँ, लेकिन सिर्फ आपको ही। लोग मेरे बारे में क्या कहते और सोचते हैं, इसकी चिन्ता मुझे नहीं है।..."

इसमें संशय नहीं कि इन पत्रों ने प्रोफेसर राइट के मन में उठी शंकाओं को निर्मूल कर दिया और उनकी आस्था स्वामीजी पर अक्षुण्ण बनी रही। इसी प्रकार श्रीमती बागली (मिशिगन के गवर्नर की पत्नी) का पत्र बहुत दिनों से न पा स्वामीजी को लगा कि कहीं वे भी मिशनरी दुष्प्रचार से प्रभावित तो नहीं हो गयीं हैं। १८ जून, १८९४ को उन्होंने प्राध्यापक राइट को लिखा, "बोस्टन में मेरे विरुद्ध इस लेख से श्रीमती बागली किंकर्तव्यविमूढ़ सी हो गयी लगती हैं। डिट्रायट में उन्होंने एक प्रति भेजी थी और उसके बाद उन्होंने मुझसे पत्राचार ही बन्द कर दिया है। ईश्वर उन्हें प्रसन्न रखें। वे मेरे प्रति काफी कृपालु रही हैं।..."

पर स्वामीजी की यह शंका निर्मूल थी। श्रीमती बागली की स्वामीजी के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी, इसका परिचय उनके द्वारा अपने मित्र को लिखे उस पत्र से प्राप्त होता है, जिसमें उन्होंने स्वामीजी के प्रति लगाये लांछनों को असत्य और बेबुनियाद सिद्ध किया। उन्होंने २२ जून, १८९४ को अपने मित्र को लिखा, "आपने मेरे प्रिय मित्र विवेकानन्द के बारे में लिखा। उनके चरित्र की सराहना करने का सुअवसर पा मुझे

प्रसन्नता हो रही है। कोई उन पर सन्देह करे, यह विचार ही मुझे अत्यन्त रोष से भर देता है। अमेरिका में उन्होंने हमें जीवन के बारे में जो उच्च विचार प्रदान किये, वैसे हमें कभी प्राप्त नहीं हुए थे। डिट्रायट जैसे पुराने रूढ़िग्रस्त शहर के सभी क्लबों में उन्हें जैसा सम्मान मिला, वैसा और किसी को नहीं मिला। और मैं तो समझती हूँ कि वे लोग जो उनके विरुद्ध एक शब्द भी बोलते हैं, उनकी महानता और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति ईर्ष्यालु हैं। नहीं तो वे ऐसा क्यों करते ? इन्होंने तो ऐसा कुछ नहीं किया, जिससे यह बात होती।

"वे ईसाइयों के लिए एक दैवी सन्देशवाहक के रूप में आये।... उन्होंने हमारे लिए दिव्यतर और आदर्शमय व्यावहारिक जीवन को सुलभ बना दिया। एक धर्म प्रचारक और आदर्श पुरुष के रूप में, मेरी दृष्टि में, उनका सानी मिलना कठिन है। उन्हें असंयमी कहना अत्यन्त असत्य और अन्यायपूर्ण है। जो भी उनके सम्पर्क में लाये गये, वे उनके अनुपम चारित्रिक गुणों की प्रशंसा करते नहीं अघाते। डिट्रायट के वे लोग जो बड़ी छान-बीन के बाद निर्णय देते हैं तथा यों ही किसी को ग्रहण नहीं करते, वे भी उनकी प्रशंसा और आदर करते हैं।... वे मेरे यहाँ अतिथि के रूप में तीन हफ्ते से भी अधिक रहे तथा मेरे पुत्रों और पुत्रवधुओं ने, मेरे पूरे परिवार ने उन्हें सदा एक भद्रपुरुष पाया। वे अत्यन्त शिष्ट, विनीत और ऐसे आकर्षक मित्र हैं, जिनका घर में सदा स्वागत

है। मैंने उन्हें यहाँ एनिस्क्वाम के अपने ग्रीष्मालय में आमन्त्रित किया है, और मेरे परिवार में वे सदा सम्मानित और अभिनन्दित होंगे। मुझे उन आलोचकों पर सचमुच में क्रोध की अपेक्षा तरस अधिक आता है--यह सोचकर कि जिनकी वे आलोचना कर रहे हैं, उनके बारे में उनकी जानकारी कितनी कम है। जब वे शिकागो में रहते है, तो अधिक समय श्री और श्रीमती हेल के यहाँ बिताते हैं। मुझे लगता है, वह उनका एक तरह से घर ही है। उन्होंने उन्हें (स्वामीजी को) पहले अतिथि के रूप में निमन्त्रित किया था और अब वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते हैं। वे प्रिसबिटेरियन हैं..., सुसभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं तथा विवेकानन्द के प्रति उनमें प्रशंसा, आदर और स्नेह का भाव है। विवेकानन्द एक शक्तिशाली और श्रेष्ठ पुरुष हैं, जो ईश्वर का अनुसरण करते हैं। वे एक शिशु की भाँति सरल और विश्वासी हैं। डिट्रायट में मैंने उनके सम्मान में महिलाओं और पुरुषों को निमन्त्रित कर एक सान्ध्य सम्मेलन का आयोजन किया था। दो हफ्ते बाद उन्होंने आमन्त्रित अतिथियों के बीच मेरे घर में एक व्याख्यान दिया।... अतिथियों में मैंने वकील, न्यायाधीश, पादरी, सैन्य अधिकारी, चिकित्सक तथा व्यवसायी व्यक्तियों को अपनी पत्नियों और पुत्रियों सहित आमन्त्रित किया था। विवेकानन्द ने, 'प्राचीन हिन्दू दार्शनिक और उनकी शिक्षा' विषय पर दो घण्टे व्याख्यान दिया। सभी प्रगाढ़ तन्मयता

के साथ अन्त तक उसे सुनते रहे। वे जहाँ भी बोले, लोगों ने प्रसन्नता से सुना और कहा, 'मैंने कभी किसी व्यक्ति को ऐसा बोलते नहीं सुना।' वे विरोध पैदा नहीं करते, वरन् लोगों को एक उच्च मानसिक धरातल पर ले जाते हैं, जहाँ लोग मानवरचित सम्प्रदाय और वर्ग से परे कुछ और ही देख पाते हैं तथा उनके और अपने धार्मिक सिद्धान्तों में एकत्व का अनुभव करते हैं।

"प्रत्येक मनुष्य उन्हें पहिचान कर और उनके साथ एक मकान में रहकर अधिक अच्छा बन सकेगा।...मैं चाहती हूँ कि अमेरिका का प्रत्येक व्यक्ति विवेकानन्द को जाने और अगर भारत के पास ऐसे और व्यक्ति हों, तो वे उन्हें हमारे पास भेजें।"

श्रीमती बागली की तरह स्वामीजी के और भी हितैषी मित्र थे, जिन पर विरोधियों के कुत्सापूर्ण दुष्प्रचार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथा जिनकी स्वामीजी के प्रति श्रद्धा पूर्ववत् बनी रही। श्री हेल ऐसे व्यक्तियों में से एक थे। एक बार श्री हेल को एक गुमनाम पत्र मिला, जिसमें लिखा था—'स्वामी विवेकानन्द दुश्चरित्र हैं, अतः उनका आपके परिवार की कन्याओं के साथ मिलने देना उचित नहीं।' हेल महोदय ने उसे पढ़ते ही आग की भट्ठी में झोंक दिया। इसी प्रकार की अनेक चिट्ठियाँ स्वामीजी के कई मित्रों को प्राप्त हुई थीं और उन्होंने उनके साथ प्रायः ऐसा ही न्याय किया था।

●

प्रश्न – क्या जीव के कल्याण के लिए जीवित सद्गुरु का का होना अनिवार्य है ? क्या सद्गुरु से मंत्र दीक्षा लिए बिना जीव का कल्याण सम्भव नहीं है ?

—जमुना प्रसाद सारस्वत, छतरपुर

उत्तर—श्री रामकृष्ण देव कहा करते थे कि यदि हमारे मन में ईश्वर को पाने के लिए तीव्र व्याकुलता हो जाय, तो वही हमारा गुरु बन जाता है तथा हमारे कल्याण का हेतु। धर्मग्रन्थों ने भी कहा है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो :'—मन ही मनुष्य के बन्धन का हेतु है तथा मोक्ष का भी। पर प्रश्न यह है कि मन में वैसी तीव्र आकुलता कैसे आये ? वह बन्धन का हेतु न बनकर मोक्ष का हेतु कैसे बने ? इसके लिए हमें मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। कई लोग भावुकतावश अपने मन में व्याकुलता का 'आरोपण' किया करते हैं ईश्वर के लिए 'जबरदस्ती' अपने मन में रुदन लाने का प्रयास करते हैं। ऐसी व्याकुलता, जो बलपूर्वक लायी जाय, हानिकारक होती है। ईश्वर के लिए मन में उठनेवाली व्याकुलता को भी हमारे नियंत्रण में होना चाहिए। अनियंत्रित व्याकुलता बहुधा हमारी निम्न प्रवृत्तियों को भी जोरों से उभाड़ दिया करती है, और यदि हम इन रहस्यों को बिना जाने, केवल कुछ पुस्तकों को पढकर, अपने मन के अनुसार साधना करते रहे, तो मनोरोग से आक्रान्त होने की

आशंका बनी रहती है। ये सारी बातें वही बता सकता है, जिसे स्वयं का अनुभव हो। सही रास्ते का पता वही दे सकता है, जो उस पर से गया हो। ऐसे अनुभवी लोगों को ही हम आध्यात्मिक पथ के सन्दर्भ में 'सद्‌गुरु' कहते हैं। अतः सद्‌गुरु की अनिवार्यता उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाती है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सद्‌गुरु का जीवित रहना कितना कल्याणकारक है।

जहाँ तक सद्‌गुरु से मंत्रदीक्षा लेने का प्रश्न है, उसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका यों है। वैसे हमारा मन कई मंत्रों और ईश्वर के कई रूपों में भटकता रहता है। कभी हम एक मंत्र का जाप करते हैं, तो कभी दूसरे मंत्र का। कभी हमें 'ॐ नमः शिवाय' कहना अच्छा लगता है, तो कभी 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' कहना, और कभी मात्र 'ॐ' का जाप करना हमें भाता है। कभी हम राम-नाम जपते हैं, तो कभी कृष्ण-नाम। कभी हम शिव का ध्यान करते हैं, तो कभी राम का, कभी काली का, तो कभी दुर्गा का। मन भगवान् के इन विभिन्न रूपों और नामों में भटका करता है। यद्यपि ये सभी नाम और सभी रूप सही हैं, पर फल सबमें भटकने से नहीं मिलता। किसी एक रूप में अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित करना होता है तथा उसी के नाम का जप। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम अन्य रूपों और अन्य नामों से द्वेष करें। हमारी श्रद्धा सभी नामों और सभी रूपों पर रहे, पर एक में हमारी विशेष आस्था हो। उस एक को 'इष्ट' कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति दस स्थानों पर यदि ५-५ फुट खोदकर छोड़ दे, तो उसे जल नहीं मिलेगा, जल पाने के लिए उसे एक ही स्थान पर ५० फुट खोदना होगा, वैसे ही जीवन में कल्याण प्राप्त करने के लिए एक इष्ट को लेकर साधना करनी होती है। पर हम अपने आप में अपने इष्ट का निर्णय नहीं कर पाते। इसीलिए हम सद्‌गुरु की शरण लेते हैं। वे हमारी भावना को पहचानकर तदनुरूप इष्टमंत्र हमें प्रदान करते हैं। यही मंत्रदीक्षा का रहस्य है।

❁

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१. प्रकाशन का स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक — स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

६. स्वत्वाधिकारी — रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी कैलासानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी पवित्रानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी भास्वरानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द